I.S.S.N. 0975-6531

यू.जी.सी. केयरलिस्ट में सम्मिलित

वैचारिकी

भारतीय संस्कृति-साहित्य की शोध द्वैमासिकी

जुलाई-अगस्त 2024 * भाग 40 - अंक 4

भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता

• वैचारिकी •

जुलाई-अगस्त 2024 भाग 40 अंक 4

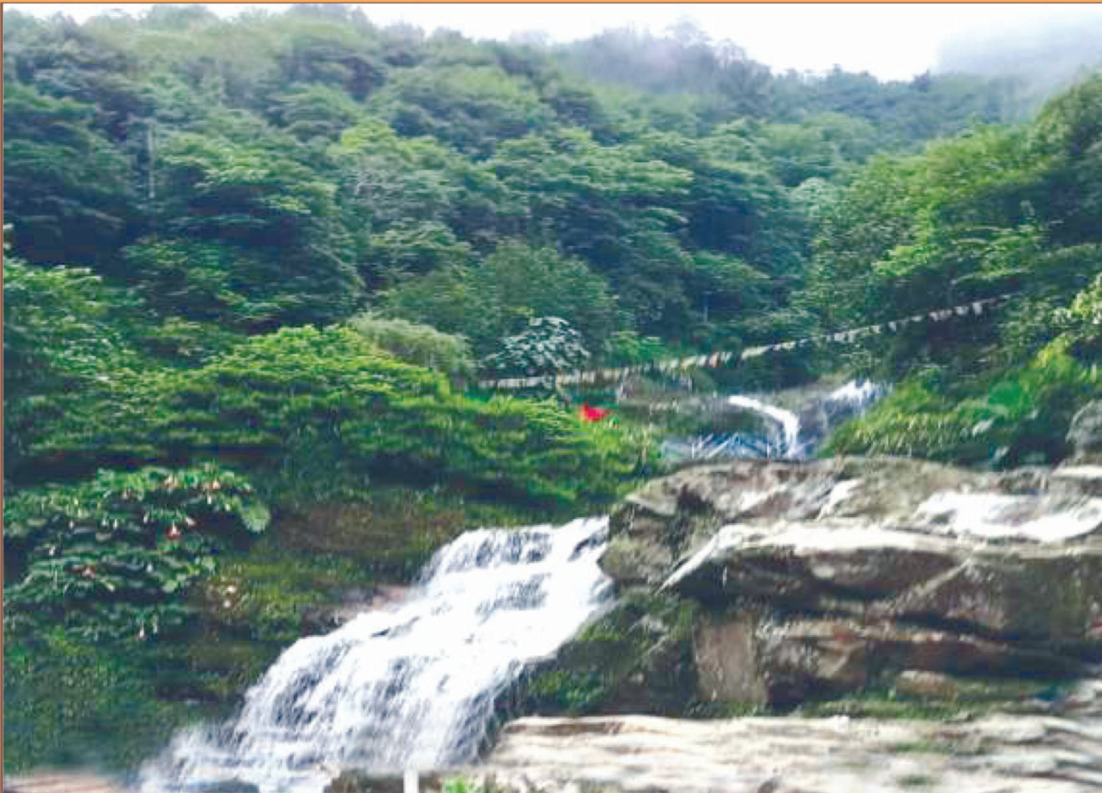

वैचारिकी

भारतीय विद्या मन्दिर की द्वैमासिक शोध पत्रिका

अध्यक्ष व प्रधान-सम्पादक

डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

सम्पादक

डॉ. बाबूलाल शर्मा

प्रबंध-सम्पादक

शंकरलाल सोमानी

योगः कर्मसु कौशलम्

कार्यालय

भारतीय विद्या मंदिर

12/1, नेली सेनगुप्ता सरणी

कोलकाता-700087

दूरभाष : 033-71001614

मो. : 09830559364

ई-मेल :

bvm.vaichariki@gmail.com

वेबसाइट :

www.bharatiyavidyamandir.com

सदस्यता शुल्क

वार्षिक 450/- रुपये

द्वैवार्षिक 900/- रुपये

सदस्यता शुल्क भेजने हेतु :–

Payee's Name :

BHARATIYA VIDYA MANDIR

Current A/c.No. : 32030320176

Bank : State Bank of India

Branch : New Market

IFSC Code No. : SBIN0004662

I.S.S.N. 0975-6531

वैचारिकी

वर्ष 40 : अंक 4

(धर्म-दर्शन-विज्ञान, साहित्य-लोकसाहित्य, इतिहास-पुरातत्व, कला-लोककला)

यू.जी.सी. केयरलिस्ट में सम्मिलित

जुलाई-अगस्त 2024 • आषाढ़ कृष्ण 10, भाद्र कृष्ण 13 वि. सं. 2081 • रु. 50

अनुक्रम

- **अध्यक्षीय** – 03
- **सम्पादकीय** (राष्ट्रीयता के अंतर्द्वनद्व) 05
- **ब्रज के लोककवि-लोकगायक और स्वातंत्र्य समर** – डॉ. रामसनेही लाल शर्मा 07
- **भारतीय संविधान में धर्मनिरपेक्षता बनाम पंथनिरपेक्षता**– डॉ. निशा गोयल 10
- **तिथि अंकन : ज्योतिषीय आधार से** – डॉ. अलकनन्दा शर्मा 14
- **अवतारवाद और कृष्ण-भक्ति** – डॉ. रामानन्द शर्मा 18
- **पुराणों एवं साहित्य में राधा-कृष्ण** – गोपाल जी गुप्त 23
- **श्रीमदभगवद्‌गीता में ध्यान-योग के साधन** – डॉ. अजित कुमार 26
- **आधुनिक जीवन शैली और योग** – कृष्ण कुमार विश्वकर्मा 32
- **बौद्ध मत एवं शून्य विचार** – डॉ. दीपक श्रीवास्तव 37
- **संत पीपा की वाणी में नैतिक मूल्य** – डॉ. हवा सिंह 45
- **प्रसाद की कामायनी : छायावाद की गीता**– अरुण कुमार शर्मा 50
- **हिन्दी नई कहानी में विपन्नता से त्रस्त मध्यवर्ग**– डॉ. सिन्धु जी नायर 52
- **शृंखला की कड़ियां : स्त्री अस्मिता की अभिव्यक्ति** – डॉ. ब्रह्मदत्त शर्मा 57
- **मानवीय राग के रचनाकार-फणीश्वर नाथ रेणु** – डॉ. अरुण कु. पांडेय 64
- **समकालीन हिन्दी महिला साहित्यकारों के उपन्यासों में बदलते जीवन मूल्य** – वैशाली 68
- **समकालीन नाटकों में पौराणिक कथाओं की प्रासंगिकता** – मनोज मल्लाह 72
- **पाकिस्तान में सार्वजनिक क्षेत्र में महिला आंदोलन** – डॉ. कमला 75
- **अहिल्या मिश्र की आत्मकथा:संघर्ष की कहानी** – अपर्णा भारती 80
- **लोक संस्कृति संग्रहालय, भीमताल : लोक जीवन का संरक्षण स्थल** – विदुषी 83
- **पाठक मंच** – जीतेंद्रनाथ जौहरी 88

❁ *आवरण-चित्र सौजन्य : हिन्द की सांस्कृतिक विरासत ह्वाट्सएप ग्रुप।*

❁ *आवरण पृष्ठ 1-2 के चित्रों पर कविताएं आमंत्रित। प्रथम पुरस्कार रु. 2100/, द्वितीय पुरस्कार रु. 1100/-* ***–सम्पादक***

- प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक-प्रकाशक की अनुमति आवश्यक।
- प्रकाशित लेखादि में अभिव्यक्त विचारों से प्रकाशक-सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
- समस्त विवादों के लिए न्यायालय क्षेत्र कोलकाता होगा।

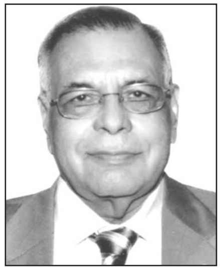

अध्यक्षीय

भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है कि बौद्ध, जैन तथा सिख आदि धर्म तथा विभिन्न मत-सम्प्रदाय और पंथ नवाचार के बावजूद एक ही वटवृक्ष का हिस्सा बने रहे। पृथक सरणी चुनकर भी अपने को भारत की विराट और व्यापक प्राचीन संस्कृति का अभिन्न अंग मानते रहे। हमने यह कभी नहीं कहा कि हमारा रास्ता ही सही है और यही एकमात्र रास्ता है। संस्कृति के प्रचार-प्रसार हेतु कभी दूसरे पर आक्रमण नहीं किया। यहां तक कि हमने धर्म का विकास भी मानवीय मूल्यों के आधार पर किया। 'धारयेति इति धर्मः' के प्राचीन सूत्र के अनुसरण में भारतीय संस्कृति का आधार सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अक्रोध, सदाचार, करुणा, चित्त शुद्धि, न्याय, धैर्य, क्षमा, विवेक, परोपकार आदि मानवीय मूल्य ही रहे हैं।

वर्तमान समय में जो नवीन संस्कृति बन रही है, हम उसका विकास मानवीय मूल्यों के आधार पर ही करें। हम अपने से प्रश्न करें कि हमारी संस्कृति क्या रही है? उसमें क्या-क्या समाहित रहा है? भारतीय संस्कृति में धर्म, दर्शन, विज्ञान, जीवन-पद्धति आदि शामिल रहे हैं। गंगा की तरह यह संस्कृति सतत प्रवहमान रही है। तथापि 19वीं और 20वीं शताब्दी में काफी कुछ राजनीतिक कारणों से हमारी शिक्षा-पद्धति पर पूरा ध्यान नहीं दिया गया। अंग्रेजों ने अपनी आवश्यकता के अनुसार जो शिक्षा पद्धति बनाई और लागू की थी, हम उस पर ही चलते रहे। इस तरह हम पश्चिमी विचारधारा से कुछ अधिक प्रभावित रहे तथा अपने देशज मूल्यों को हमने छोड़ना शुरू कर दिया। भारतीय संस्कृति से दूर होते जाने के फलस्वरूप समाज में एक द्वंद्व-सा पैदा हो गया।

स्वस्थ जीवन-शारीरिक और मानसिक-जीने की परम्परा कमजोर पड़ गई। इसलिए यह आवश्यक है कि जिन मानवीय मूल्यों के आधार पर हमारी संस्कृति विकसित हुई उन्हें हम आत्मसात करें। आज की शिक्षण-पद्धति ने हमें विज्ञान से तो जोड़ा पर प्राचीन ज्ञान परम्परा से दूर कर दिया। अपने इतिहास, दर्शन और कला-रूपों का हम पुनरावलोकन करें तथा अपने समाज और अपनी संस्कृति का संरक्षण और संवर्धन कर अपनी स्वस्थ परम्परा को प्रवहमान रखें।

◆ ◆ ◆

साधारणतया लोग भौतिक पदार्थों को और शक्ति या ऊर्जा को चेतना से अलग समझते हैं। पेड़ों में चेतना है यह बात आचार्य जगदीशचंद्र बोस ने प्रमाणित कर दी। लेकिन चेतना, शक्ति और पदार्थ का क्या सम्बंध है, यह स्पष्ट नहीं हुआ। इनर्जी या ऊर्जा और पदार्थ का सम्बंध तो आइंसटाइन ने $E = mc^2$ के सूत्र से बता दिया। इसका एक अर्थ तो यह हुआ कि पदार्थ पुंजीभूत इनर्जी ही है। यह इनर्जी और पदार्थ कभी नष्ट नहीं होते, स्वरूप परिवर्तन भले कर लेते हैं।

अब मन में यह प्रश्न उठता है कि चेतना या कॉन्शसनेस कहां से आई? विश्व का आरम्भ बिग बैंग से हुआ और शून्य से सारा ब्रह्मांड सृजित हुआ, पर यह चेतना कहां से आ गई? प्रयोगशाला में अमीनो एसिड के चैतन्य कण उत्पन्न करने की बहुत-सी प्रचेष्टाएं हुईं लेकिन किसी भी प्रयोगशाला में किसी भी रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा चैतन्य कण नहीं बनाया जा सका। लेकिन हमारे मस्तिष्क में विचार आते हैं और मस्तिष्क की इस क्रिया के द्वारा हमारे स्नायुतंत्र में शक्ति का प्रवाह हो जाता है। इसका विस्तृत वर्णन दीपक चोपड़ा की पुस्तक 'क्वांटम हीलिंग' तथा रोज़र पेनरोज़ की पुस्तक 'एम्परर्स न्यू माइंड' में पढ़ा जा सकता है। विचार मस्तिष्क में एक ऐसी प्रतिक्रिया करते हैं कि स्नायुतंत्र में शक्ति का संचार हो जाता है और हमारी मांसपेशियां हरकत में आ जाती हैं। इस तरह हम कार्य करने लगते हैं।

विचार से चेतना की उत्पत्ति का कोई 'इक्वेशन' हमारे सामने नहीं है। आधुनिक काल में बहुत से वैज्ञानिक कह रहे हैं कि चेतना और इनर्जी का सम्बंध है। हमारे शास्त्रों में तो उल्लेख है कि परम चैतन्य ब्रह्म से ही सारा जगत प्रकट हुआ है। तथापि कॉन्शसनेस, इनर्जी और मैटर के सम्बंध को सारे वैज्ञानिकों ने नहीं स्वीकारा है। इस विषय में एक दल मानता है कि चेतना से ही इनर्जी और मैटर की उत्पत्ति हुई। दूसरा दल इसे स्वीकार नहीं करता, लेकिन यह दल यह बता पाने की स्थिति में नहीं है कि चेतना का स्रोत क्या है।

एक बात और, हम बात-बात में यह कहते हैं, विशेषकर जब हमारे विचार मिलते हैं कि 'We are on same wavelength' तो क्या चेतना एक वेव की तरह है? जब कुछ व्यक्ति मिलकर किसी विषय पर विचार करते हैं और अंत में एक निर्णय पर पहुंचते हैं तो कहते हैं 'We have arrived at a consensus'. ये इसी तरह है कि जैसे 'We are on the same conscious field'. तो क्या इनर्जी का यह गुण अर्थात 'फील्ड थियरी' चेतना पर भी लागू है? अर्थात चेतना का भी एक फील्ड होता है और चेतना एक वेव या तरंग के रूप में भी है। अगर यह मानें कि चेतना से ही 'इनर्जी' और 'मैटर' उत्पन्न हुए हैं तो क्या चेतना का 'द वेव एण्ड फील्ड' का सिद्धांत चेतना से इनर्जी में भी आ गया क्योंकि इनर्जी चेतना से उत्पन्न हुई है। अतः यह विचारणीय है कि चेतना, इनर्जी या ऊर्जा और मैटर या पदार्थ का सम्बंध क्या है? चेतना किस तरह से कार्य करती है? चेतना का विज्ञान क्या है?

इसी क्रम में विचारणीय है कि धार्मिक स्थान पर आराधन के समय हमारे भीतर एक विशिष्ट किस्म की चेतना जागृत होती है जबकि प्रतिवाद और प्रतिरोध के लिए एकत्र भीड़ में हमारे भीतर एक दूसरे किस्म की चेतना जागृत होती है।

भारत में इस विषय पर बहुत आरम्भ से ही चिंतन होता रहा है। वैदिक काल से ही इस विषय पर चिंतन के बीज देखने को मिलते हैं। हमारे वैदिक ऋषियों ने वैदिक मंत्रों से साक्षात्कार किया अतः ऋषियों को द्रष्टा कहा गया। मंत्र प्रथमतः एक चेतना का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। अथर्ववेद में मंत्रों के उच्चार की जो प्रक्रिया आरम्भ हुई वह आज तक हमारे समाज में चली आ रही है। इन मंत्रों का प्रयोग शास्त्रों में वर्णित तीनों तापों- आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक के उपचार हेतु करने तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी इनका उपयोग करने की परम्परा हमारे यहां चली आ रही है। तो क्या यह तंत्र, मंत्र और यंत्र का शास्त्र चेतना के विज्ञान का एक स्वरूप है? योग में धारणा, ध्यान और समाधि तथा कुंडलिनी-चक्र का जागरण क्या चेतना की ही एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है? यही कुछ प्रश्न हैं जिनके उत्तर हमें खोजने हैं।

चेतना, ऊर्जा तथा पदार्थ को लेकर वर्तमान हुए शोध कार्यों तथा भारतीय चिन्तन परम्परा में तत्संबंधी संदर्भों पर विचार करने के लिए 10 और 11 अगस्त, 2024 को जादवपुर विश्वविद्यालय में एक कॉन्फ्रेंस भारतीय विद्या मंदिर, भारतीय संस्कृति संसद तथा भक्तिवेदांत इंस्टीट्यूट द्वारा आयोजित की जा रही है जिसमें देश-विदेश के विभिन्न शीर्षस्थानीय विद्वान अपने विचार व्यक्त करेंगे और उन विचारों को लिपिबद्ध कर हम आप सबके समक्ष लाने का प्रयास करेंगे।

– डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

सम्पादकीय

राष्ट्रीयता के अंतर्द्वनद्व

78वें स्वतंत्रता दिवस की हार्दिक शुभकामनाएं। 15 अगस्त 2024 को हमें एक राष्ट्र के रूप में स्वतंत्र हुए 77 वर्ष हो गये। 1947 में 15 अगस्त को स्वतंत्रता प्राप्ति की पृष्ठभूमि में लम्बा संघर्ष है, त्याग है और असंख्य बलिदान हैं। इस संघर्ष का प्रारम्भ 1857 में हुआ जो मुख्य रूप से ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध सैनिक विद्रोह था और उसमें कई देशी रियासतों के शासक भी सम्मिलित हुए जो वस्तुतः अपनी-अपनी रियासतों के लिए संघर्ष कर रहे थे। नानासाहब पेशवा, तात्या टोपे, रानी लक्ष्मीबाई, कुंवर सिंह, बख्तावर सिंह इत्यादि ने इस समय अत्यंत साहस एवं शौर्य से ब्रिटिश सेनाओं का सामना किया, परन्तु अधिकांश अन्य रियासतों ने अंग्रेजों का साथ दिया और दक्षिण भारत उदासीन रहा। दुर्भाग्य से इस संघर्ष का नेतृत्व भोग-विलास में गलित अंतिम मुगल बादशाह बहादुर शाह जफर के निर्बल हाथों में था। अंग्रेजों ने इस विद्रोह को बड़ी कुटनीति एवं कुशलता से दबा दिया। बहादुरशाह जफर को गिरफ्तार कर रंगून (बरमा- म्यांमार) भेज दिया गया। इसे प्रथम स्वतंत्रता संग्राम भी कहा जाता है। हालांकि इसमें न तो एक राष्ट्र के रूप में सम्पूर्ण भारत सम्मिलित था, न इसमें सामान्यजन सम्मिलित थे, न राष्ट्रीय भावना जैसी कोई बात थी। 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए स्वतंत्रता आंदोलन में पहली बार सम्पूर्ण भारत की एक राष्ट्र के रूप में अवधारणा विकसित हुई और जबर्दस्त राष्ट्रीय भावना का उत्कर्ष हुआ, जिसके कारण असंख्य लोग त्याग एवं बलिदान के लिए प्रेरित हुए। इस आंदोलन में भी विदेशी ब्रिटिश शासकों को देशीय अर्थात भारतीय रियासतों के शासकों का समर्थन प्राप्त था और साथ ही कुछ को छोड़कर अधिकांश-अधिकांश मुसलमान भी इस आंदोलन से उदासीन थे जो खिलाफत आंदोलन के समय अपनी धार्मिक भावनाओं के कारण इससे जुड़े थे, लेकिन तुर्की में खिलाफत की समाप्ति के साथ ही वे फिर उदासीन हो गये। महात्मा गांधी ने मुसलमानों को स्वतंत्रता आंदोलन से जोड़ने के एक माध्यम के रूप में खिलाफत आंदोलन का नेतृत्व किया था, परन्तु वे विफल रहे। वस्तुतः इस्लाम में राष्ट्र की कोई अवधारणा है ही नहीं, इसमें तो सर्वप्रमुख केवल धर्म है, यहां तक कि इंसानियत से भी ऊपर। तथ्य तो यह है कि यह स्वतंत्रता आंदोलन हिन्दुओं का आंदोलन था, जैसा कि प्रारम्भ में इससे जुड़ने के बाद अलग होकर जिन्ना ने भी कहा था और 15 अगस्त 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले ही जिन्ना के नेतृत्व में मुसलमानों ने हिन्दुओं के साथ रहने से मना कर अलग देश की मांग कर डाली जिससे देश का बंटवारा होकर पाकिस्तान का निर्माण हुआ। विशेष बात यह कि हिन्दुओं को मुसलमानों के साथ रहने में कोई दिक्कत नहीं थी और उन्होंने तीन करोड़ मुसलमानों को हिन्दुस्तान में रहने दिया, जबकि बंटवारे के अनुसार मुसलमान मात्र को पाकिस्तान चले जाना था और हिन्दू मात्र को हिन्दुस्तान आ जाना था। हिन्दुस्तान के इतिहास में इस तरह की अनगिनत विडम्बनायें हैं। अस्तु।

15 अगस्त 1947 को स्वतंत्रता प्राप्ति के कई फलित हुए, जैसे कि पूरा हिन्दुस्तान एक देश के साथ-साथ एक राष्ट्र के रूप में अवधारित हुआ। देश से तात्पर्य एक भू-भाग से है जो एक सम्पति या आजीविका है, परन्तु इससे यहां के निवासियों का भावनात्मक जुड़ाव हो जाता है तो फिर इसे एक राष्ट्र भी कहा जायेगा। इस तरह देश एक भूभाग के रूप में सम्पत्तिवाचक है, जबकि राष्ट्र भावनावाचक है अर्थात भावना जिसके द्वारा किसी देश में स्थित विभिन्न भू-भागों में निवास करने वाले विभिन्न संस्कृतियों के लोग परस्पर जुड़ते हैं। आजादी के पूर्व इस देश के विभिन्न क्षेत्रों को लेकर विभिन्न भावनात्मक निष्ठायें थी जो कहीं रियासत के राजा के रूप में थी अथवा जातीयता के रूप में। आजादी के बाद इस समस्त भूभाग की राष्ट्रीय पहचान भारतीयता हुई। स्वतंत्रता के साथ ही जो सबसे उल्लेखनीय फलित हुआ वह था प्रजातंत्र, जो अंग्रेजों के संसर्ग का फल था। यह तथ्य है कि इस देश में अंग्रेजों का शासन एवं उनका संसर्ग नहीं होता तो हम अपने अतीत अर्थात अपनी संस्कृति, इतिहास, पुरातत्व, कला, साहित्य के प्रति सचेष्ट होते क्या, समाज सुधार होते क्या, ज्ञान-विज्ञान के नये क्षेत्रों एवं आधुनिकता से जुड़ते क्या और इस स्वतंत्रता का फलित प्रजातंत्र होता क्या? इस प्रजातंत्र के कारण ही उपेक्षित समान्यजन एवं स्त्रियों, ऊंच-नीच, छूआ-छूत, शोषित-शोषक के संबंध में विमर्श और प्रयास होने लगे। इस स्वतंत्रता के परिणामस्वरूप प्राप्त इस महान जीवन मूल्य प्रजातंत्र की रक्षा हम सब का प्रथम दायित्व है। स्वतंत्रता के पश्चात हमने अपने लिए जो संविधान अथवा आचार संहिता स्वीकार की उसने जीवन का अधिकार, समानता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, मताधिकार, धर्मनिरपेक्षता जैसे नवीन सामाजिक मूल्य प्रदान किये। लेकिन स्वतंत्रता को 77 वर्ष होने पर भी हम इन मूल्यों को ठीक-ठीक स्वीकार कर व्यवहार में नहीं ला सके हैं। जैसे उदाहरण लें कि धर्मनिरपेक्षता को सत्ता-स्वार्थों ने अल्पसंख्यकवाद में बदल दिया। धर्म के आधार पर मुसलमानों, इसाइयों, सिक्खों, जैनों, पार्शियों को अल्पसंख्यक घोषित कर दिया और शेष बचे सब लोगों को हिन्दू कहकर बहुसंख्यक घोषित कर दिया। अद्भुत है कि हिन्दू नाम से कोई धर्म है ही नहीं, अब इसे सनातन नाम दिया जा रहा है अर्थात जो सदा से है, क्योंकि इसके प्रारम्भ होने का कोई समय-संवत् पता नहीं है। यह भी समझ से परे है कि सिखों और जैन इन हिन्दुओं में क्यों नहीं गिने जाते? धर्मनिरपेक्षता के नाम पर विभिन्न समूह अपने-अपने स्वार्थों को साध रहे हैं और इसकी विकृत व्याख्याएं कर रहे हैं। इसी तरह राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रवाद एक महान जीवन मूल्य है, परन्तु अभी भी हम इस जीवन मूल्य को पूरी भावात्मक निष्ठा से स्वीकार कर व्यवहार में नहीं ला पाये हैं। यह भी रहा कि स्वतंत्रता के पश्चात लम्बे समय तक जो सरकारें रही उन्होंने राष्ट्रवाद जैसी अवधारणा को पनपने नहीं दिया। यहां हिन्दू बहुसंख्यक हैं तो फिर इस देश की राष्ट्रीयता का आधार हिन्दुत्व क्यों नहीं होना चाहिए? तथ्य तो यह है कि भारतीयता का पर्याय हिन्दुत्व ही हो सकता है, जिसमें सनातन, बौद्ध, जैन, सिख सभी सम्मिलित हैं। जब हम भारतीय संस्कृति की बात करते हैं तो इस हिन्दू अथवा सनातन संस्कृति की बात ही करते होते हैं।

वस्तुतः कथित हिन्दू या सनातनी स्वभावतः ही धर्मनिरपेक्ष हैं और इंसानियत अथवा मानवता सापेक्ष हैं और राष्ट्रीयता इसके लिए सर्वोपरी होनी चाहिए, परन्तु इस पर अतीतजीविता तथा सुविधाभोगी मानसिकता का वर्चस्व है। ब्राह्मणों-पुरोहितों, साधु-संतों, संप्रदायाचार्यों, मंदिरों-मठाधीशों आदि को केवल अपने धर्म-धंधे से मतलब है और वे राष्ट्रीयता जैसे विषय पर कभी आग्रहशील नहीं होते। मठों-मंदिरों में अरबों-खरबों की सम्पत्ति भगवान की सम्पत्ति के नाम पर तालों में बंद है, जबकि उसका राष्ट्रीय उत्थान में उपयोग किया जा सकता है। पिछले और दलित अपनी सामाजिक स्थिति को लेकर क्षुब्ध हैं और राष्ट्रवाद के प्रति उदासीन ही नहीं, बल्कि उसके विरोध में हैं। यह विडम्बना ही है कि बहुत से हिन्दू नेता अपने सत्ता-सुख के लिए ही चिन्तित और प्रयासशील हैं और भारतीय अथवा हिन्दू अस्मिता का विरोध करते हैं। जबकि मुसलमान धर्मनिरपेक्ष और इंसानियत सापेक्ष होने को और राष्ट्रीयता को मानने के लिए कतई तैयार नहीं हैं। यह दुर्भाग्य ही है कि राष्ट्रीय भावनाओं से आंदोलित होकर, त्याग और बलिदान कर प्राप्त स्वतंत्रता के 77 वर्ष हो जाने पर भी हम धर्म, क्षेत्रीयता, भाषा, मान्यताओं, जाति-भेद आदि विभाजनों के कारण अपनी राष्ट्रीयता का निर्माण नहीं कर पाये हैं। *जय हिन्द, वन्देमातरम्।*

– डॉ. बाबूलाल शर्मा

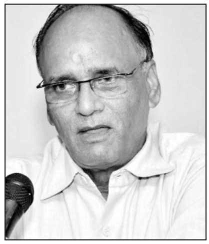

ब्रज के लोककवि-लोकगायक और स्वातंत्र्य समर

डॉ. रामसनेही लाल शर्मा 'यायावर'

अंग्रेजों की पाशविक और क्रूर दासता से मुक्ति का प्रयास 1857 से ही प्रारंभ हो गया था। तत्पश्चात पंडित गेंदालाल दीक्षित, चाफेकर बन्धु और विनायक दामोदर सावरकर के संघर्ष ने कभी अंग्रेजों को चैन से नहीं बैठने दिया। स्वातन्त्र्य संघर्ष तीनों स्तरों पर लड़ा गया– (1) सशस्त्र संघर्ष– जो देश में भी लड़ा गया और विदेश की भूमि से भी (2) सैनिक विद्रोह– चन्द्रसिंह गढ़वाली और नेवी का विद्रोह इसी स्तर का प्रयास था तथा नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में आजाद हिन्द फौज का संघर्ष और भारत की प्रथम स्वतन्त्र सरकार का गठन तथा (3) अहिंसक संघर्ष– जो गांधी जी के नेतृत्व में चला। गांधी जी की बड़ी देन यह थी कि उन्होंने इस आन्दोलन को जनान्दोलन बना दिया। उन्होंने अपने ऐसे अनुयायी कर लिये थे जो अपने घर परिवार एवं व्यक्तिगत सुखों को तिलांजलि देकर हाथ की कती-बुनी खादी पहनकर आजादी के दीवाने होकर निकल पड़ते थे। इन स्वतन्त्रता के परवानों को न तो ब्रिटिश पुलिस की लाठी-गोली डरा पाती थी, न इन्हें पत्नी, बच्चों और परिवार का दुःख, बलिदान के मार्ग से विचलित कर पाता था। स्वतन्त्रता संग्राम में ब्रज क्षेत्र का योगदान भी कम नहीं रहा है। अंग्रेजी सत्ता को ललकारने वाले (सैनिक) के सम्पादक पं. श्रीकृष्णदत्त पालीवाल (शिकार कथाओं को साहित्य की विधा बनाकर क्रान्तिकारियों और गांधीवादियों दोनों को सहयोग करने वाले) पं. श्रीराम शर्मा, श्री देवकी नन्दन विभव, फिरोजाबाद के पं. रामचन्द्र पालीवाल एवं पं. गया प्रसाद शर्मा, श्री भोगीलाल मिश्रा, डॉ. हरिशंकर शर्मा शंकर, जगन प्रसाद रावत, मुरसान निवासी राजा महेन्द्र प्रताप सिंह जो बाद में वृन्दावन में रहने लगे, मथुरा निवासी आचार्य लक्ष्मीरमण आदि ब्रजांचल के प्रमुख स्वतन्त्रता सेनानी नायक थे। आगरा के सेठ अचल सिंह का नाम सम्मिलित किए बिना यह सूची अधूरी रहेगी। स्वतन्त्रता संग्राम में ब्रज की महिलाओं ने भी बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था। इस संग्राम में सहयोग करने वाला बहुत बड़ा वर्ग परोक्ष रूप से स्वतन्त्रता सेनानियों की सहायता कर रहा था। कहीं कुछ लोग इन सेनानियों को आर्थिक सहायता पहुँचाते थे तो कहीं दूसरे लोग इन सेनानियों को अपने घरों में ठहराते थे। फिरोजाबाद के पं. भूपसिंह शर्मा ने 1942 में हिरन गाँव का रेलवे स्टेशन लुटवा लिया था। उस लूट का धन का एक पैसा भी किसी सेनानी ने व्यक्तिगत उपयोग में नहीं लिया था। उस धन से कुरी कूपा गाँव में प्राईमरी स्कूल की स्थापना की गयी थी, जो आज भी संचालित है। उस लूट काण्ड के बाद 14 अगस्त 1942 को गुँदाऊँ गाँव में एक सभा हुई जिसमें मंच पर उपस्थित पं. भूपसिंह शर्मा, चौधरी गंधर्वसिंह तथा पं. गया प्रसाद शर्मा को गिरफ्तार करने गए हुए तहसीलदार एवं पुलिस थानेदार को पाँच हजार हथियारबंद जनता ने घेर लिया था और माफी मंगवाकर और भारत माता तथा महात्मा गाँधी की जय बोलकर ही लौटने दिया था। इसके बाद पं. भूपसिंह शर्मा को गिरफ्तार करने के लिए ब्रिटिश फौज की पूरी एक कम्पनी हैदराबाद से आई थी।

स्वतन्त्रता सेनानियों का एक वर्ग लोकगायकों और लोककवियों का था। वे लोकगायक विभिन्न

लोक विधाओं ढोला, आल्हा, जिकड़ी, भजन, स्वांग, राजपूती होली आदि के माध्यम से जन-जागरण का महत्वपूर्ण कार्य करते थे। एक ओर तो ये लोकगाथाओं के माध्यम से जन-चेतना जगाते थे, दूसरी ओर अवसर मिलने पर सत्याग्रह में जनता का नेतृत्व भी करते थे। गांधी जी के सत्याग्रह और अहिंसा को इन्हीं लोक गायकों ने उस अनपढ़ जनता तक पहुँचाया था जो दूर-दराज के ऐसे ग्रामों में निवास कर रही थी जहाँ आवागमन के साधन नहीं थे, कभी-कभी साईकिल और कभी मीलों पैदल चलकर ये ग्रामीण जनता का मनोरंजन भी करते थे और उसमें स्वतन्त्रता की उत्कट अभिलाषा भी उत्पन्न करते थे। इन लोकगायकों में आल्हागायक ठाकुर पोखपाल सिंह, ढोला गायक श्री टीकाराम पुजारी, पं. गया प्रसाद शर्मा, भोजदत्त, शिवचरन वाल्मीकि, तहसील किरावली के बाबा चरन दास, जावरे गाँव के भजन गायक सन्त शिवराम, सरैंधी गाँव के भजन गायक पं. पातीराम शर्मा, अलीगढ़ जिले के गाँव जलालपुर (लाढ़पुर) के श्री राम प्रसाद पुजारी, एत्मादपुर के सियाराम, बदन सिंह, अकोला के छोटे लाल, अजीतपुर के विशम्भरनाथ शर्मा विशिया तथा मथुरा के घासीराम आदि अत्यन्त प्रसिद्ध लोक गायक रहे। घासीराम के ब्रजभाषा लोकगीत पुरानी पीढ़ी के लोगों को आज भी स्मरण हैं। इनमें से कुछ लोग अभी भी जीवित हैं। शिवचरन वाल्मीकि ने ढोला गायन में तो ख्याति अर्जित की ही, स्वतन्त्र भारत में दो बार विधान सभा और एक बार लोकसभा के सदस्य भी रहे। टीकाराम पुजारी ने ढोला गायन में अपार ख्याति अर्जित की और जनजागरण का महत्वपूर्ण कार्य किया और स्वतन्त्र भारत में मथुरा जिले की सादाबाद तहसील के अपराजेय जमीदार कांग्रेस के कुँवर अशरफ अली को लोकसभा के चुनाव में पराजित किया। जब वे सत्याग्रह में जेल गए तो जेल में उन्होंने ढोला के नायक राजा नल के पिता और माता को फूलसिंह पंजाबी राजा ने कैद कर लिया तो पुजारी जी ने कैदियों के सम्मुख फूलसिंह की जेल का ऐसा सचित्र वर्णन किया कि कैदी उत्तेजित हो गए। घबराकर सरकार ने उनके ढोला गायन पर रोक लगा दी।

ठाकुर पोखपाल सिंह फिरोजाबाद जनपद के ब्लाक नारखी के अन्तर्गत गढ़ी अफोय के निवासी थे। इन्होंने कक्षा 8 तक जूनियर हाईस्कूल में शिक्षा प्राप्त की। ये आर्य समाजी थे। ज्वालापुर (हरिद्वार) में इन्होंने जबरन मुसलमान बनाए गए अनेक हिन्दू परिवारों को हिन्दू समाज में वापस लिया था। फिरोजाबाद में रामलीला मैदान में राष्ट्रीय आल्हा गाते हुए इन्हें सपत्नीक गिरफ्तार किया गया था। इनका रचित राष्ट्रीय आल्हा सुनकर उस समय के लोग उत्तेजना से भर जाते थे। इनके आल्हा की कुछ पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं–

कहा दोगलन के जस गावैं का चुगलन के करैं बखन।
साखे गाऊँ उन बीरन के अरपे मातृभूमि पै प्रान।
आज न आल्हा ऊदल मलिखे ढेवा और जगनसी राय।
माहिल मामा उरई बारे घर-घर डंका रहे बजाय।
जितने नेता हैं भारत में बन्दौं चरण शीश धरि ध्यान।
दादा भाई ओर गोखले पूना वारे तिलक महाराज।

♦ ♦ ♦

मान मानचेस्टर के मारे लंकाशायर गयो दहलाय।
चेम्सफोर्ड के छक्के छूटे सीधौ भगो विलायत जाय।
सन् सत्तावन में गरजी जब भारतवासिन की तलवार।
छक्का छूटे अंग्रेजन के हलि गयी लन्दन की सरकार।
होली खेली खूब खून की कुँवर सिंह तात्या सरदार।
रानी लक्ष्मीबाई गरजीं गूँजी मंगल की हुंकार।
वनवासी गरजे सपूत फिर कर दयी तीरन की बौछार।
भगत सिंह सुखदेव राजगुरू झूलि गए फाँसी पै वीर।
बरसों ऐसें खून कि जैसें वरसि रहौ अंबर ते नीर।
नर नाहर आजाद वीर नें मारि दिये गोरन के मान।
अशफाकउल्ला बिस्मिल ने मिल भारत माँ की राखी शान।

जिला फिरोजाबाद के ब्लाग नारखी के ही ग्राम तिलोकपुर के ढोलागायक पं. गया प्रसाद शर्मा उस काल के स्वतन्त्रता सेनानियों में सबसे कम आयु में जेल गए थे। इसीलिए इनके वरिष्ठ साथी इन्हें लला का प्रेममय सम्बोधन देते थे। इनकी साक्षरता जेलों में ही हुई। ये तीन बार जेल गए। इनकी स्मरण शक्ति विलक्षण थी। एक दो बार सुनकर ही किसी बड़ी से बड़ी कविता को स्मरण कर लेते थे। जन चेतना को जाग्रत करने का काम इन्होंने आगरा, मथुरा, मैनपुरी एवं एटा जिलों के ग्रामों में किया। नल, दमयन्ती, ढोला और मारू की लोक गाथा ब्रज प्रदेश में इतनी विस्तृत हो चुकी है कि इसने लोक महाकाव्य

का स्वरूप धारण कर लिया है। इसी महाकाव्य के माध्यम से लोक जीवन को क्रान्ति के लिए प्रशिक्षित किया गया। सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में सभी बड़े नेताओं के गिरफ्तार हो जाने पर पं. गया प्रसाद शर्मा को आगरा कमिश्नरी का डिक्टेटर नियुक्त किया गया था। जनता में इनका बड़ा मान सम्मान था जो आज मृत्युपरान्त भी बरकरार है। साधारणतः राष्ट्रीय नेताओं के आगमन पर जनता को रोके रखने के लिए इनके गायन का उपयोग किया जाता था। इनकी कुछ राष्ट्रीय पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं– *सखी आए पौरि हमारी री, जे साजन खद्दरधारी।*

सकल सृष्टि में भई न होइगी इनकी सी महतारी री

चालीस कोटि जने सुत वाने तोऊ कन्या क्वारी री।

जे साजन खद्दरधारी।

पं. राम प्रसाद पुजारी अलीगढ़ जिले के जलालपुर (लाढ़पुर) गाँव के निवासी थे। वे गाँव-गाँव घूमकर जन-जागरण का कार्य किया करते थे। वे अत्यन्त निर्भीक व कर्मठ थे। 1932 में वे पहलीबार जेल गये, उन्हें 6 माह जेल में रहना पड़ा। 1941 में पुनः वे व्यक्तिगत सत्याग्रह करते हुए जेल गये। वे खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में कविता लिखते थे। जन जागरण के लिए जहाँ जैसी श्रोता मंडली हुई या जहाँ जैसी आवश्यकता अनुभव हुई वैसी ही काव्य-रचना सुनाकर वे जन-जन को स्वातन्त्र्य समर में सहभागी होने को प्रेरित करते थे। दूसरी बार की जेल में उन्होंने ब्रजभाषा में काव्य-रचना की। वे गीत, भजन और छन्द तीनों का उपयोग करते थे। उन्होंने स्वयं अपने बारे में लिखा है, "घर-गाँव छोड़कर देश सेवा में तल्लीन हो गया। पूरा प्रचारक और पक्का निर्भय आजादी का सेनानी की परीक्षाओं में प्रथम लाइन में चला। यातनाएँ भोगते हुए सन् 1947 में विजयी हुए हाथों से तिरंगा झण्डा दिल्ली के किले की चोटी पर फहराता देखकर अत्यन्त हर्षित जीवन सफल जीवन मान गाँव में आकर बच्चे देखे तो अति दासता में रिश्तेदारों के यहाँ जीवन काटते मिले। मैं आजादी की धुन में उन्हें भूल सा गया।"

भजन गायकों में तेजसिंह, पातीराम, शिवराम विशेष प्रसिद्ध रहे। पं. शिवराम मथुरा जिले के जावरे गाँव के निवासी थे। ये अपने भजनों में लोकप्रिय लीलाएँ गाते थे। भारतीय इतिहास के विस्मृत स्वर्णिम पृष्ठों को लीलाओं में बाँधकर ये जनता तक पहुँचाते थे जैसे मोरध्वज लीला, चक्रव्यूह, कर्ण का दान इत्यादि। इन्हीं भजनों के बीच में ये स्वतन्त्रता की चेतना जगाते चलते थे। इनका गाया हुआ एक भजन– *चुनरिया मोकूँ ऐसी रंगाइदे मेरे वीर*

हरौ, सफेद रंग केसरिया तीनौ संग लगैं

बीच में होइ कन्हैया वारो चक्र सुदर्शन वीर

इनके एक और भजन की कुछ पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं– *आजादी देवी बहुत दिन में आई।*

♦ ♦ ♦

कितने हू वीरन ने तोपे सुख-सम्पत्ति वारी सारी।

कितनेउ भारत लालन कौ पी गई खून तू पथवारी।

भजन गायकों में सरैंधी निवासी पं. पातीराम समाज सुधारक आर्यसमाजी मनोवृत्ति के जिकड़ी भजन गायक थे। इन्होंने भी जन साधारण को आजादी का दीवाना बनाने का भारी कार्य किया परन्तु भजन गायकों में सर्वाधिक प्रशंसनीय कार्य तेजसिंह का है। तेजसिंह के भजन राष्ट्रीय चेतना और समाज सुधार की भावना से ओतप्रोत होते थे। इनके भजन दूसरे गायक भी गाते थे। इनके भजनों में ऐतिहासिक चेतना का विस्फोट रहता था। उनके एक भजन की पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं— *समय कौं मत चूको भाई*

पहिली चूक बादिना भई तैमूर यहाँ चढ़ि आया था।

♦ ♦ ♦

देख देख यह कोहराम अपनी छाती फट जाती क्यों?

बोई हमारी चूक आज हो रही दुःखदाई।

इन लोकगायक स्वतन्त्रता सेनानियों में से सभी दिवंगत हो चुके हैं। ठाकुर पोखपाल सिंह कई वर्ष पहले दिवंगत हुए हैं। तेजसिंह पातीराम नहीं रहे। टीकाराम पुजारी भी स्वर्गवासी हो चुके हैं। पं. गया प्रसाद शर्मा भी 2003 में दिवंगत हो गए जो जीवित हैं उनकी स्मृति भी क्षीण हो चुकी है। इनका रचित साहित्य लुप्त हो रहा है। केवल कुछ कण्ठों में ही कुछ पंक्तियाँ सुरक्षित हैं परन्तु यह एक ज्वलन्त सच्चाई है कि इन लोकगायकों व लोककवियों ने स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लिया और अपने संगीत और काव्य के प्रभाव से अनेक युवकों को स्वातन्त्र्य युद्ध के लिए तैयार किया। निश्चित रूप से ये लोक गायक प्रणम्य है। ▫▫

86 तिलक नगर, वाईपास रोड

फीरोजाबाद– 283203, मो.- 9917796897

भारतीय संविधान में धर्मनिरपेक्षता बनाम पंथनिरपेक्षता

डॉ. निशा गोयल

दिनांक 03.01.1977 से प्रभावी संविधान (42वें संशोधन) अधिनियम, 1970 की धारा 2 द्वारा संविधान की प्रस्तावना में प्रतिस्थापित 'पंथ निरपेक्ष' शब्द अंग्रेजी के 'सैकुलर' शब्द के हिन्दी पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है। दिनांक 17 अक्टूबर, 1949 को संविधान सभा ने जब प्रस्तावना का पारायण प्रारम्भ किया तब भी इस 'सैकुलर' शब्द को प्रस्तावना में अन्तर्विष्ट करने का प्रश्न उपस्थित हुआ था। बृजेश्वर प्रसाद ने संशोधन संख्या 313 के द्वारा अन्य शब्दों के साथ-साथ सैकुलर शब्द को भी प्रस्तावना में स्थान दिये जाने की मांग की थी। इनका तर्क यह था कि इस शब्द को प्रस्तावना में स्थान देने से अल्पसंख्यकों के मनोबल में वृद्धि होगी और राष्ट्रीय नेताओं द्वारा भी इस शब्द पर सदैव बल दिया जाता रहा है। मतदान में परास्त होकर यह संशोधन निरस्त हो गया।[1]

45वाँ संविधान संशोधन विधेयक जो कि अन्ततः 44वें संविधान संशोधन 1978 के रूप में पारित हुआ, के खण्ड 44 द्वारा, इस शब्द की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा गया था कि 'सैकुलर' का अर्थ ऐसे गणतंत्र से है, जिसमें सभी धर्मों के लिए समान आदर हो। उक्त संशोधन-विधेयक के इस अंश को राज्यसभा ने स्वीकार नहीं किया, फलतः यह शब्द अद्यावधि अपरिभाषित है। इस शब्द के द्वारा संविधान के मूल अधिकारों में सन्निविष्ट धर्म स्वातंत्र्य के अधिकार को मान्यता प्रदान की गई है।[2]

पंथ निरपेक्ष राज्य के जिस सर्वसम्मत अर्थ को विश्व में मान्य किया गया है, उसके अनुसार पंथ निरपेक्ष राज्य वह है जिसका अपना कोई धर्म न हो अर्थात राज्य की ओर से किसी धर्म के प्रति आबद्धता न हो। संविधान में जहाँ 'सैकुलर' शब्द के पर्याय के रूप में पंथ निरपेक्ष शब्द का प्रयोग किया गया है, वहीं अनेक स्थलों पर संविधान में 'धर्म' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। प्रस्तावना के ही तृतीय चरण की प्रतिज्ञा में विचार में अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता में 'धर्म' शब्द विराजमान है। इस प्रतिज्ञा में 'धर्म' शब्द अंग्रेजी के 'फेथ' शब्द का पर्याय बनकर प्रयुक्त हुआ है। संविधान के अनुच्छेद 25 से 28 तक में 'धर्म' और 'धार्मिक' शब्द अंग्रेजी के 'रिलीजस' और 'रिलीजन शब्दों के पर्याय बने हैं। 'पंथ और धर्म' इन दो पृथक शब्दों के प्रयोग से संविधान में 'पंथ' और 'धर्म' शब्द के भेद को लक्ष्य किया गया है तथापि न कहीं इस भेद को स्पष्ट किया गया है और न ही कहीं इस भेद का कोई संकेत दिया गया है, और न हीं इन दोनों में से, किसी शब्द की कोई परिभाषा प्रदान की गई है।[3]

'धर्म' और 'पंथ' में जो भेद है उसकी दार्शनिक प्रतीति यह है कि 'धर्म' अनादि, अनश्वर और सनातन है। यह एक स्वयंभू तत्व और स्वचालित तन्त्र है। यह अपौरुषेय पदार्थ है, कोई पुरुष विशेष इसका प्रवर्तक नहीं है। गीता में धर्म के ह्रास को तो स्वीकारा गया है, किन्तु इसके

नाश को स्वीकार नहीं किया गया। युगावतारों के द्वारा, अधर्म से होने वाली ग्लानि से धर्म का पुनरुद्धार होता है, किंतु निर्माण नहीं, युगावतार धर्म का संस्थापन करते हैं, उसकी स्थापना नहीं।[4]

'पंथ' प्रचलित होते हैं, पंथों का निर्माण किया जाता है और व्यक्ति विशेष इनके प्रवर्तक होते हैं। इस तरह बाइबिल के प्राचीन ग्रन्थ में यहूदियों के दस आदेश और भारत में सत्यं वद, धर्म चर का वैदिक वचन किसी पुरुष विशेष की कृति नहीं है। युगावतारों, सन्तों, मसीहाओं और ऋषियों ने धर्म का बखान किया है, इसका निर्माण नहीं। मनुस्मृति के अनुसार महात्माओं का एक समुदाय महर्षि मनु के समीप प्रणिपात हुआ और उनसे विविध जातियों के यथोचित धर्मों का क्रमशः बखान करने की याचना की। इस प्रकार मनुस्मृति में जिस धर्म बखान हुआ है, वह मनुक्त है, किन्तु मनुकृत नहीं। मनु ने स्वयं को धर्म का कर्ता नहीं माना है। उन्होंने वेद, स्मृति, शील, साधुओं के आचरण और आत्मतुष्टि, इन पाँच को धर्म का मूल माना है। तत्पश्चात् वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मप्रियता, इन चार को धर्म के साक्षात् लक्षण कहकर विख्यात किया है।[5]

'धर्म' के आधार पर मत विशेष को ही 'पंथ' कहा जा सकता है। इस प्रकार यदि 'पंथ निरपेक्ष' शब्द का पर्याय खोजा जाए तो 'मत निरपेक्ष' शब्द उसका उचित पर्याय होगा। भारतीय वांग्मय में 'धर्म' एक अति समृद्ध शब्द है। इसके भाव विस्तार और इसकी व्यापकता के कारण ही जैन, बौद्ध, सिख, ईसाई, इस्लाम आदि पंथ होते हुए भी, कालान्तर में धर्म बनकर ही प्रतिष्ठित हो गये और धर्म की ही संज्ञा में इनका भी बोध होने लगा। राज्य-धर्म संविधान में निवास करता है। राज्य-धर्म का स्रोत संविधान है। संविधान की प्रस्तावना में इसी राज्य-धर्म के सूत्र विद्यमान हैं। भारत में पंथ निरपेक्ष गणराज्य का भी एक धर्म है। समाजिक व राजनीतिक न्याय; विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता; प्रतिष्ठा और अवसर की समता; व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता; सांविधानिक धर्म के मूलभूत सूत्र हैं। ये धर्म-सूत्र किसी पंथ की अपेक्षा नहीं करते। सर्वोच्च और शीर्षस्थ होने के कारण ये सूत्र पंथ-निरपेक्ष हैं। संविधान के इस राज-धर्म के अनुरूप रहकर व्यक्ति किसी भी पंथ का अनुयायी होने के लिए स्वतन्त्र है। पंथ निरपेक्षता, धर्म के प्रति तटस्थता है और इसका अर्थ, धर्महीनता अथवा धर्म विरुद्धता कदापि नहीं है।

यहाँ तटस्थता का अर्थ यह भी नहीं है कि किसी पंथ द्वारा राज्य-धर्म का ह्रास किये जाने पर राज्य मौन साधे रहे। व्यक्ति की गरिमा और समाजिक न्याय के विपरीत, किसी भी पंथ की कोई मान्यता या राज्य-धर्म के इन सूत्रों की अवज्ञा में किया गया किसी भी पंथ का कोई भी संस्कार अथवा आचरण निषिद्ध माना जायेगा। अतः राज्य की धर्मनिरपेक्षता धर्म के प्रति नितान्त उदासीनता अथवा धर्म के समक्ष नितान्त असहायता नहीं है। धर्मों और पंथों की आचार संहिता, संविधान के प्रतिकूल नहीं हो सकती। 'पंथ' और 'धर्म' का पृथक-पृथक शब्दों से बोध कराने का ध्येय पंथों और उनकी आचार संहिताओं में भेद करना है। राज्य यद्यपि पंथ निरपेक्ष है तथापि पंथों के आचार और संस्कारों पर अंकुश लगाने में सक्षम है। पंथों के इस आचार और संस्कार को ही संविधान में धर्म शब्द से आख्यात किया गया है।

प्रस्तावना में 'पंथ' और 'धर्म' दोनों शब्दों के प्रयोग से संविधान ने 'पंथ' और 'धर्म' शब्द के सूक्ष्म भेद को आत्मसात किया है। 'धर्म' शब्द के अर्थ के विपुल भार के विचार से ही प्रस्तावना में 'धर्म' शब्द को 'विश्वास' और 'उपासना के मध्य में स्थान दिया गया है। 'उपासना' और 'विश्वास' धर्म के अनुचर शब्द हैं। अनुच्छेद 25 में कतिपय' प्रतिबन्धों के साथ, अन्तःकरण को स्वतंत्रता का तथा धर्म को अबाध रूप में मानने, आचरण करने और प्रचार करने के समान अधिकार को प्रत्याभूत किया गया है। विश्वास, उपासना, आचरण और प्रचार जैसे अवान्तर शब्दों का प्रयोग, धर्म शब्द के अर्थ की विविधता से विवश होकर किया गया है। भारत में विशेषतः हिन्दुत्व के संदर्भ में इस 'धर्म' शब्द के अर्थ में सदैव ही अतिव्याप्ति रही है।

'पंथ', मूलतः आस्था का ही वाची है, किन्तु धर्म शब्द में आस्था और उसकी अभिव्यक्ति ये दोनों ही पक्ष

समाविष्ट हो जायेंगे। धर्म के आस्था-पक्ष को इसकी अभिव्यक्ति – पक्ष से पृथक करने के दृष्टिकोण से ही संविधान में 'पंथ' और 'धर्म' शब्दों को पृथक-पृथक प्रयुक्त किया गया है। अतः 'धर्म' शब्द के व्यापक अर्थ में पंथ शब्द का अर्थ स्वयमेव निहित है। 42वें संविधान संशोधन से पूर्व जब प्रस्तावना में 'पंथनिरपेक्षता' शब्द विद्यमान नहीं था, तब भारत के गणतंत्र का धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप में ही बोध होता था। प्रस्तावना की यह प्रतिज्ञा कि संविधान धर्म, उपासना और विश्वास की स्वतंत्रता को प्रत्याभूत करता है, राज्य को धर्मनिरपेक्ष माने जाने का आधार थी। अनुच्छेद 25 में, जहाँ अन्तःकरण की और धर्म के अबाध रूप से मानने और आचरण व प्रचार करने की स्वतंत्रता का मूल अधिकार सन्निविष्ट है, वहाँ यह अन्तःकरण भी धर्म के आस्था पक्ष का ही द्योतक है। इस आधार पर कह सकते हैं कि विश्वास, अन्तःकरण, पंथ और धर्म का सामान्य अर्थ, व्यक्ति के आस्था पक्ष से सम्बन्धित है, जबकि उपासना, आचरण और प्रचार शब्दों का अर्थ, धर्म की अभिव्यक्त, व्यवहार अथवा कर्मकाण्ड पक्ष से सम्बन्धित है। इस प्रकार इन आधिकारिक शब्दों के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि जहाँ धर्म के आस्था पक्ष पर संविधान का वरदहस्त है, वहीं धर्म के कर्मकाण्ड और उसका प्रचार पक्ष राज्य की विधि के अधीन है।

प्रस्तावना में राज्य को 'पंथ निरपेक्ष' बनाकर संविधान द्वारा, धर्म, विश्वास और उपासना की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखा गया है, किन्तु इसके अपवाद स्वरूप अनुच्छेद 25 से 28 में, धर्म के प्रचार, व्यवहार और प्रबन्ध पक्ष को नितान्त स्वच्छन्दता प्रदान नहीं की गई है। अनुच्छेद 25 में कहा गया है कि लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा संविधान के भाग तीन के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए सभी व्यक्तियों को अन्तःकरण की स्वतंत्रता का और धर्म को अबाध रूप में मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान अधिकार होगा साथ ही इस अनुच्छेद की कोई बात किसी ऐसी विद्यमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या राज्य को किसी ऐसी विधि बनाने से निवारित नहीं करेगी जो धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक या अन्य लौकिक क्रियाकलापों का विनियमन करती है अथवा समाजिक कल्याण और सुधार का उपबन्ध करती है या सार्वजनिक प्रकार की हिन्दुओं की धार्मिक संस्थाओं को हिन्दुओं के सभी वर्गों और विभागों के लिए खोलती है।

अनुच्छेद 26 में यह स्पष्टतः कथन है कि लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय या उसके किसी विभाग को धार्मिक और पूर्व प्रयोजनों के लिए संस्थाओं की स्थापना और पोषण का अपने धर्म विषयक कार्यों का प्रबन्ध कराने का; जंगम और स्थावर सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व का और ऐसी सम्पत्ति का विधि के अनुसार प्रशासन करने का अधिकार होगा। इस तरह धर्म विषयक कार्यों के प्रबन्ध को संविधान ने विनियमित करने के राज्याधिकार को सुरक्षित रखा है। धार्मिक कार्यों के प्रबन्ध को स्वतंत्रता के संदर्भ में, अनुच्छेद 26 के खण्ड (घ) में, धार्मिक सम्प्रदाओं को अपनी सम्पत्ति का केवल विधि के अनुसार प्रबन्ध करने का अधिकार है।

अनुच्छेद 25-26 द्वारा प्रत्याभूत धार्मिक स्वतंत्रता की प्रत्याभूति को न्यायिक निर्वचन द्वारा और विस्तृत कर दिया गया है। न्यायालय ने कहा है कि अनुच्छेद 25-26 में व्यक्ति को श्रद्धा और विश्वास को मानने और प्रचार करने का अधिकार तो है ही साथ ही वे सब कर्मकाण्ड या प्रथाएं मानने का अधिकार भी है जो उस सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा धर्म का अंग समझी जाती हैं। धर्म विश्वास का विषय है और यह आवश्यक नहीं कि वह ईश्वरवादी हो। भारत में बौद्ध तथा जैन धर्म निरीश्वरवादी हैं। प्रत्येक धर्म की कुछ आस्थाएँ और सिद्धान्त होते हैं, जिन्हें उस धर्म के अनुयायी आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए सहायक मानते हैं। किंतु यह कहना उचित नहीं है कि विश्वास मात्र ही धर्म है। इसी प्रकार प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय या संगठन को यह विनिश्चित करने की पूरी छूट है कि कौन से कर्मकाण्ड उनके धर्म के सिद्धातों के अनुसार आवश्यक हैं। राज्य के विनिमय उन विषयों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते जो सारवान रूप से धार्मिक हैं। न्यायालय को यह निर्णय करने का अधिकार है कि कोई विशिष्ट कर्मकाण्ड या पूजा-पद्धति

लोक स्वास्थ्य या सदाचार के विरुद्ध है या धार्मिक पद्धति का सारवान अंग नहीं है और किसी सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक विनियमन करने वाली विधि का उल्लंघन करती है तो न्यायालय हस्तक्षेप कर सकेगा।

अनुच्छेद 27 में यह व्यक्त किया गया है कि किसी भी व्यक्ति को ऐसे करों का भुगतान करने के लिए बाध्य नहीं किया जायेगा जिनके आगम किसी विशिष्ट धर्म या धार्मिक सम्प्रदाय की अभिवृद्धि या पोषण में व्यय करने के लिए विनिर्दिष्ट रूप से विनियोजित किये जाते हैं।

अनुच्छेद 28 के खण्ड (1) में यह घोषणा की गई है कि पूर्णतः राज्य-निधि से पोषित किसी शिक्षण संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायेगी। खण्ड (2) में कहा गया है खण्ड (1) की कोई बात ऐसी शिक्षण संस्था पर लागू नहीं होगी जिसका प्रशासन राज्य करता है, किन्तु जो किसी ऐसे विन्यास या न्यास के अधीन स्थापित हुई है जिसके अनुसार उस संस्था में धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक है। खण्ड (3) में कहा गया है कि राज्य से मान्यता प्राप्त या राज्य निधि से सहायता पाने वाली शिक्षण संस्था में उपस्थित होने वाले किसी व्यक्ति को ऐसी संस्था में दी जाने वाली धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के लिये तब तक बाध्य नहीं किया जायेगा जब तक कि उस व्यक्ति ने, यदि वह अवयस्क है तो उसके संरक्षक ने इसके लिए अपनी सहमति नहीं दे दी है।

संविधान ने राज्य की पंथ निरपेक्षता तथा व्यक्ति के धर्म स्वातंत्र्य को एक साथ आत्मसात किया है, पंथ निरपेक्षता राज्य का संकल्प है, किन्तु धर्म, विश्वास और उपासना व्यक्ति की स्वतंत्रता है। पंथनिरपेक्षता का दायित्व राज्य से संयुक्त है, किन्तु किसी भी धर्म की अनुयायिता व्यक्ति का अन्तर्निहित अधिकार है। राज्य को पंथ निरपेक्ष रखते हुए, व्यक्ति के धर्म स्वातंत्र्य की प्रत्याभूति राज्य-कौशल का विलक्षण चमत्कार है। राज्य के अवयवी नागरिकों के धर्मानुयायी होने पर भी राज्य को धर्मनिरपेक्ष बनाये रखना सांविधानिक विधि के द्वारा ही संभव हुआ है। सांविधानिक विधि से धर्म-सापेक्ष नागरिकता, धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता में परिणत हो गई है। 'हम भारत के लोग' संप्रभु हैं तथा इस सम्प्रभुता में; हम भारत के लोगों में से प्रत्येक को किसी भी धर्म को मानने और उसके प्रचार करने की स्वतन्त्रता है तथापि हम भारत के लोग तत्क्षण धर्म निरपेक्ष हो जाते हैं। व्यष्टि का यह द्वैत असाध्य को साध्य में परिणत कर रहा है। कोई भी व्यक्ति व्यक्तिशः धर्म सापेक्ष रह कर भी अन्य सभी व्यक्तियों के प्रति धर्म निरपेक्ष सिद्ध होगा। अन्ततः धर्मनिरपेक्षता, धार्मिक सहिष्णुता का आदर्श है। धर्म इस प्रकार निजत्व भी है और परत्व भी।

वस्तुतः भारत में पंथ निरपेक्षता भारत के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक चिन्तन एवं समाजशास्त्रीय विकास की देन है। इसका मूलाधार है सर्व धर्म समभाव, सर्व धर्म सद्भाव, उदार समन्वयवादी दृष्टिकोण और वैज्ञानिक दृष्टि। आज भारत एक पंथनिरपेक्ष राज्य तो है, परंतु पंथनिरपेक्ष समाज नहीं। तथापि भारत में पंथनिरपेक्षता के सम्मुख साम्प्रदायिकता, हिन्दू धार्मिक संस्थाओं में राज्य का बहुत अधिक हस्तक्षेप, कानूनी ढांचे में धार्मिक निजी कानून की स्थिति तथा पंथनिरपेक्ष राज्य को आधारभूत रूप से परिभाषित न कर पाना आदि गम्भीर समस्याएँ विद्यमान हैं।[7]

पंथ निरपेक्षता के लक्ष्य को प्राप्त कर पाना तो तभी संभव है, जब प्रत्येक भारतीय अपने हृदय में इस बात को संजो ले कि 'हम पहले तथा अन्तिम रूप में भारतीय हैं और हमें अपने भारतीय होने पर गर्व है'।

संदर्भ

(1) जैन, एस.एन. : नेहरू का सांविधानिक चिन्तन (भारतीय संविधान के मूल दर्शन के परिप्रेक्ष्य में) अध्याय-2, धर्मनिरपेक्षता व पंथनिरपेक्षता, प्रिन्टवैल पब्लिशर्स, जयपुर 1990. पृ.24। **(2)** शुक्ल, वी. एन. : भारत का संविधान, सप्तम संस्करण, ईस्टर्न बुक कम्पनी, लखनऊ 1982, पृ. 2। **(3)** जैन, एस.एन. : पूर्वोक्त पृ. 25-26। **(4)** श्रीमद्भगवद्गीता : अध्याय 4, श्लोक संख्या 7, गीताप्रेस गोरखपुर, गोविन्द भवन कार्यालय, कोलकाता का संस्थान 1982, पृ. 65। **(5)** मनुस्मृति : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहर नगर, दिल्ली, 1985 अध्याय 2, श्लोक संख्या 6.12 पृ. 17। **(6)** बसु, डी. डी. : भारत का संविधान-एक परिचय, 11वां संस्करण, लेक्सिस नेक्सिस गुड़गांव, हरियाणा, 2015, पृ. 148। **(7)** गडकर, पी.वी. गजेन्द्र : 'भारत में धर्मनिरपेक्षता इकबाल नारायण (सम्पादित) : 'भारतीय सरकार एवं राजनीति', खण्ड-1, 1974, पृ. 98।

❑❑

आचार्य, राजनीति विज्ञान,
रामेश्वरी देवी कन्या महाविद्यालय,
भरतपुर (राज.)-321001, मो. 9414711818

तिथि अंकन : ज्योतिषीय आधार से

डॉ. अलकनन्दा शर्मा

किसी भी सभ्य देश में तिथि अंकन एक महत्व का विषय रहा है सभ्यता के साथ-साथ कई महत्वपूर्ण घटनाओं को अंकित करने के प्रयास सभ्य मानव के मस्तिष्क में सतत् आते रहे होंगे। सर्वप्रथम मनुष्य अपनी आयु को गिनना प्रारम्भ करता ही है। बालक एक मास का हो गया, एक वर्ष का हो गया, यह जो आज प्रचलित है इसी रूप में पहले प्रचलित नहीं था। हमने वेद वाक्य सुना ही होगा 'जीवेत शरदम् शतम्' अर्थात् सौ शरद तक जीये, वर्ष के स्थान पर शरद ऋतु का उल्लेख यहां आया है। यह निश्चित है कि आज जो जो प्रणालियाँ तिथि अंकन के लिए विश्व भर में पायी जाती हैं, उनका विकास शनैः शनैः हुआ है। ऐसा मानना है कि मात्र अभिलेखों के उदाहरणों को लेकर जो तिथि अंकन करने का प्रयास किया जा रहा है वह एक पक्षीय है। तिथि अंकन को समझने के लिए समग्र चिन्तन की आवश्यकता है।

तिथि अंकन विषय पर भारत का प्राचीन इतिहास देखने के पश्चात् हम सर्वप्रथम ईसा पूर्व 200 से लेकर ईसा पश्चात् 300 तक के तिथि अंकन को समझने का प्रयत्न करना चाहते हैं। इस काल में विभिन्न वंशों ने राज्य किया जिसमें देशी-विदेशी वंशों का समागम देखने को मिलता है। इसमें हमें यह भी देखने को मिलता है कि तिथि व काल गणना की पूर्व प्रचलित प्राचीन पद्धतियों पर लगभग विराम सा लग गया था तथा हर राजा अपने मनोवांछित तरीके से वर्षों की गणना में जुट गये थे। उनका तारतम्य बैठाना कुछ उलझन भरा काम है। सबसे पहले हम सिकन्दर के समय से शुरू करते हैं। 'सिकन्दर के समय हिन्दुस्तान में जो काल गणना प्रचलित थी उसका वर्णन करते हुए इतिहास लेखक कर्टियस रूफस ने कहा है कि 'यहां (भारत) के लोग प्रत्येक माह के पन्द्रह-पन्द्रह दिन के दो पक्ष मानते हैं।[1] तथापि समग्र वर्ष की गणना में फर्क नहीं आता। (अर्थात् एक वर्ष 366 दिनों का माना जाता है)। परन्तु अन्य काफी लोग जिस तरह चन्द्र के पूर्ण होने की तिथि से गणना आरंभ करते हैं, उस तरह भिन्न-भिन्न महिनों को नहीं जोड़ते। जिस समय चन्द्र तुरन्त ही उगने लगता है, उसी समय से यहाँ वाले गणना का आरंभ करते हैं'।[2]

एक और विदेशी वृतांत है कि भारतवर्ष में रहे हुए यूनानी लेखक निआर्कस् कहते हैं कि 'यहाँ के लोग रूई (या रूई के चिथड़ों) को कूट-कूट कर लिखने के वास्ते कागज बनाते हैं।'[3] मेगस्थनीज ने लिखा है कि 'यहां पर दस-दस स्टेडिआ के अंतर पर पाषाण लगे हैं, जिनसे धर्मशालाओं का तथा दूरी का पता लगता है, नये वर्ष के दिन भावी फल (पंचाग) सुनाया जाता है, जन्मपत्र बनाने के लिए जन्म समय लिखा जाता है और जो न्याय 'स्मृति' के अनुसार होता है।[4]

इन कथनों के आधार पर तिथि अंकन के विकास क्रम पर प्रकाश पड़ता है कि उस काल में पंचांग सुनाना तथा वर्ष को किसी एक दिन में आरंभ करने की परिपाटी प्रचलित थी तथा वर्ष की गणना तथा दिनों की गणना को गिनने का कोई न कोई आधार अवश्य था।[5]

जैसा कि मेगस्थनीज ने इंगित किया है कि भारत में वर्ष के पहले दिन पंचांग (वर्षफल) सुनाया जाता था, अर्थात् वर्ष के प्रांरभ के दिन को मनाया जाता था। इसी के साथ ही मौर्य व शुंगकाल में तिथि अंकन के बारे में यह पाते हैं कि वर्ष राजा के राज्यकाल से प्रारंभ होता था और कोई विशेष संवत्सर का प्रयोग नहीं होता था। इस समय तिथि अंकन किसी का स्वरूप अस्पष्ट सा था।[6]

कुषाण तथा सातवाहनों के तिथि अंकन में एक क्रम का अनुभव होता है जो कि 300-350 वर्ष तक चला जो तिथि अंकन के विकास में महत्वपूर्ण कड़ी थी। इस सम्बन्ध में महामहोपाध्याय गौरी शंकर हीराचंद ओझा के विचार उल्लेखनीय हैं। शक संवत् शक जाति के किसी विदेशी राजा या शक जाति का चलाया हुआ है। इस विषय में भी भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न अटकलें लगायी हैं, कोई तुरूष्क (तुर्क, कुषाण) वंश के राजा कनिष्क को, कोई क्षत्रप नहपान को, कोई शक राजा वेननस् को और कोई शक राजा अय (अज = Azes) को इसका प्रवर्तक मानते हैं। परन्तु ये सब अनुमान ही हैं, निश्चित रूप से इसके प्रवर्तक का नाम अब तक ज्ञात नहीं हुआ है जो विस्तृत शोध का विषय है। यहां पर हम शक संवत् को कनिष्क के काल से मान रहे हैं क्योंकि इनके संवत् शक संवत् से मेल खाते हैं तथा संगत हैं।[7]

यह विदित ही है कि शक संवत् में 78-79 वर्ष जोड़ने पर ईस्वी सन् प्राप्त होता है। उसी प्रकार इन क्षत्रपों के वर्षों में 78 वर्ष जोड़ने पर ईस्वी सन् प्राप्त होता है। उसी के अनुसार गणित करने पर हमें इनका समीकरण मिलता है। उनके काल में जो अन्य विषेषता है, वह इस प्रकार है–

(a) वर्ष में सभी मासों के नामों का उल्लेख नहीं है किन्तु उनके स्थान पर मूलतः तीन ऋतुओं ग्रीष्म, वर्षा एवं हेमन्त का ही उल्लेख मिलता है, साथ ही साथ कुछ महिनों वैशाख, ज्येष्ठ, कार्तिक आदि के नाम भी मिलते हैं तथा कुछ महिनों के नाम जैसे दइसिंक्सस, अवूदकननद्व गुर्पियै आदि भी मिलते हैं जिनका मूल विदेशी है।

(b) हर मास के दो पक्ष माने गये हैं जैसाकि मेगस्थनीज ने भी बताया है, किन्तु कई स्थानों पर ऋतुओं के पक्ष लिखे गये हैं जिनकी संख्या चार पक्ष तक मिलती है। वस्तुतः ये पक्ष भी महिनों के पक्ष ही हैं जैसाकि गणित द्वारा सिद्ध होता है।

(c) तिथियों का अंकन 1 से लेकर 30 तक है और अधिकतर तिथि की जगह दिवस का प्रयोग है, जैसे पंचमें दिवस, बीसवें दिवस आदि। दिन का प्रयोग भी है, 28वें दिन ऐसा भी प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं धन्यतिथौ जैसे शब्दों का उल्लेख भी मिलता है। जिसका अर्थ अमावस्या या चन्द्रदर्शन हो सकता है, जिन्हें आगे चलकर पड़वा पर्व के रूप में आज भी मानते हैं।

(d) पक्ष के रूप में मैनें सिर्फ बहुलस का ही प्रयोग पाया जो कृष्ण पक्ष के रूप में प्रयुक्त हुआ है एक स्थान पर वैशाख शुद्धे पक्ष मिलता है जिसका अनुवाद सभी विद्वजनों ने शुक्ल पक्ष किया है, हम इससे सहमत नहीं हैं। हमारी असहमति का कारण अकारण नहीं है किन्तु ठोस गणितीय आधार है जिसका आगे उल्लेख करेंगे।

(e) हमें लगता है कि उस काल में चान्द्रमासों का प्रयोग होता था तथा साथ ही साथ उनका ऋतुओं के साथ सामंजस्य बैठाया जाता था और उसके लिए अधिक मास का प्रयोग भी होता था।

(f) अनेक स्थानों पर तिथि के साथ नक्षत्र का उल्लेख भी मिलता है। हमें तो लगता है कि उस काल में नक्षत्रों का विशेष महत्व रहा होगा जिसकी तिथि-गणना में बहुत महत्व हुआ करता था।

(g) तिथि की गणना के लिए कोई विशेष गणितीय सिद्धान्त था ऐसा प्रतीत नहीं होता किन्तु इसके विपरीत यह उल्लेख प्राप्त होता है कि तिथि की गणना एक, दो, तीन, चार अविरल रूप से होती थी। इसमें कोई तिथि क्षय नहीं होती थी न ही कहीं कोई तिथि दो बार प्रयुक्त प्राप्त होती है। अर्थात् वृद्धि तिथि नहीं होती थी। तिथि की गणना पूर्णिमा से पूर्णिमा तक तीस दिन की होती थी।

(h) मात्र एक स्थान पर वार का उल्लेख मिलता है। जिसका उल्लेख स्पष्ट रूप से गुरुवार के रूप में ओझाजी के संस्करण में मिलता है।

(i) एक विशेषता यह भी देखने में आती है कि महिनों के नाम चाहे विदेशी क्यों न हों पर तिथियों या दिनों की गणना पूर्णिमा से ही की गई है।

उक्त कथनों को पुष्ट करने के लिए हमने जिन-जिन अभिलेखों की गणना करके विवेचना की है उनमें से कुछ **कुषाण अभिलेखों** का उल्लेख कर रहे हैं–

(i) **सं.10 अ 1 आषडस्य मसस दि 20 उत्तरफगुणे ....कणिष्कस्य रजमि।** अर्थात् – कनिष्क के शासन में संवत् 11 के आषाढ़ मास के 20वें दिन उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र में।[8] सर्वप्रथम इस उदाहरण को इसलिए लिया है क्योंकि इसमें दिन के साथ उस दिन के नक्षत्र का भी उल्लेख है इसलिए इसका गणित करने पर उनकी तिथि अंकन की व्यवस्था के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। संवत् 11 में 78 जोड़ने पर ईस्वी सन् 89 के जुलाई के दिनों की गणना करने पर तिथि शुक्ल पक्ष की पंचमी आयी और स्पष्ट चन्द्रमा 5 राशि 0 अंश 54 कला आया जो कि उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र को दर्शाता है एवं सूर्य स्पष्ट 2 राशि 9 अंश 9 कला है क्योंकि आषाढ़ मास की पूर्णिमा के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र था वहाँ से गिनती करते हुए उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र तक 20 दिन होते हैं। गणना की विधि उस समय बहुत स्पष्ट नहीं थी किन्तु पूर्णिमा के दूसरे दिन से दिनों की गिनती प्रारंभ करते थे, इस तरह 20वें दिन उन्हें आकाश में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र दिखा जिसका उन्होंने उल्लेख किया है। आकाश में चन्द्रमा की स्थिति को नक्षत्रों से पहचाना जाता था, ऐसा प्रतीत होता है।

(ii) **महाराजस्यं रजतिरजस्य देवपुत्रस्य कनिष्कस्य संवत्सरे एकदशे सं. 10+1 दइसिंकस्य मसस दिवसे अठविशे दि 20+4+4।** अर्थात्– महाराज राजाधिराज देवपुत्र कनिष्क के 11वें संवत् में दइसिंक डिसिआस– ज्येष्ठ मास के 28वें दिन।[9] तदनुसार ईस्वी सन् 89 के ज्येष्ठ मास यानि 10 जून की गणना में सूर्य स्पष्ट 2 राशि 19 अंश 29 कला है तथा चन्द्र स्पष्ट लगभग 7 राशि 24 अंश 43 कला है, 14 मई को पूर्णिमा आती है उससे 28वें दिन की गणित 10 जून की है।

(iii) **महाराजस्य देवपुत्रस्य कणिष्कस्य संवत्सरे 10 ग्रि 2 दि 9** अर्थात् महाराज देवपुत्र कनिष्क 10वें संवत् की ग्रीष्म ॠतु के दूसरे पक्ष के नवें दिन।[10]

इसमें ग्रीष्म दो लिखा है यहां 2 पक्ष का द्योतक न होकर दूसरे मास का द्योतक है अर्थात् दूसरी पूर्णिमा से गिनती का द्योतक है। उस समय गिनती की प्रथा पूर्णिमा से थी जैसाकि पूर्व उदाहरणों में बताया हुआ है, यहां पर भी गिनती विशाखा नक्षत्र की पूर्णिमा से की गई है। गणित करने से मुझे ज्ञात हुआ कि मई सन् 88 को उस दिन चन्द्रमा पूर्वाभाद्रप्रद नक्षत्र में था जो विशाखा नक्षत्र से 9वां पड़ता है।

(iv) **रूद्रसीहस्य वर्षे त्रियुततर शते 100+3 वैशाख शुद्धे पंचम धण्यतिथौ रोहिणि नक्षत्र मुहुर्ते।** अर्थ– रूद्रसिंह के राजत्व काल में (शक संवत् के) एक सौ तीसरे वर्ष के वैशाख के शुद्ध पक्ष की रोहिणी नक्षत्र मुहूर्तवाली धन्यतिथि पंचमी को।[11] यह अभिलेख दक्षिणी पश्चिमी भारत के शकों (क्षत्रपों) के काल में रूद्रसिंह प्रथम का गौड़-प्रस्तर अभिलेख है। इसमें 103 वैशाख शुद्धे पंचम–धण्य तिथौ रोहिणीमुर्हूत में पंचम शब्द का जो प्रयोग हुआ है वह हमें लगता है कि यह पंचमी तिथि के लिए नहीं है जैसा कि विद्जनों ने अर्थ किया है। हमने इसकी सूक्ष्म गणित की है और पाया कि वैशाख मास में रोहिणी नक्षत्र का दिन 2 मई 181 ई.सन् को पड़ता है जो कि विशाखा नक्षत्र की पूर्णिमा से सोलहवां दिन है न कि 20वां दिन। यदि यह शुक्ल पक्ष की पंचमी होती तो रोहिणी नक्षत्र के दिन से यह 20वां दिन होना चाहिए पर ऐसा नहीं है। पुनः 20वें दिन अर्थात् वैशाख शुक्ल पंचमी की गणना करने पर उस दिन पुष्य नक्षत्र आ रहा है। इन बातों से स्पष्ट है कि उस दिन यानि रोहिणी नक्षत्र के दिन शुक्ल पक्ष की पंचमी नहीं थी।

अब यह विचारणीय प्रश्न उठता है कि यहां शुद्धे पंचम, शुक्ल पक्ष की पंचमी नहीं है तो क्या है। हमारे विचार से जो भारतीय ज्योतिष की परम्परा आगे चली उसमें जब अधिकमास आता है तब हम अधिक तथा शुद्ध मास का उल्लेख करते हैं। तत्कालीन परिस्थिति को देखते हुए मुझे यह अनुभव हो रहा है कि उस समय अधिक मास की अवधारणा प्रचलित थी जिससे चान्द्रमासों का ॠतुओं के साथ सामंजस्य बैठाया जाता

था। इसे ध्यान में रखकर हमें लगता है कि वैशाख शुद्धे का अर्थ वैशाख के दो मास गिने गये हैं जिनमें बाद वाला मास वैशाख शुद्ध माना गया है। शुद्धे का अर्थ यहां शुद्ध मास है न कि शुक्ल पक्ष। पंचम से इस बात की और पुष्टि हो रही है क्योंकि यहां पंचम पक्ष का द्योतक है। चैत्र के दो पक्ष, पहले वैशाख के दो पक्ष इस तरह चार पक्ष हुए तथा शुद्ध वैशाख में पांचवां पक्ष प्रारंभ हुआ। इस प्रकार यह पंचम तिथि का द्योतक न होकर पक्ष का द्योतक है।

अब धन्यतिथौ की बात करते हैं, धन्यतिथौ यहां तिथि का द्योतक है। हमारी ज्योतिष की परम्परा में वैदिक काल से लेकर कुछ तिथियों को विशेष महत्व दिया गया है जिनमें विशेषकर पूर्णमासी, अमावस्या, प्रतिपदा को पर्व कहा गया है तथा अष्टमी को अष्टीका। यहां धन्य अर्थात् शुभ या विशेष तिथि प्रतिपदा ही है, ऐसा गणित द्वारा भी सिद्ध है कि 2 मई 181 सन् को रोहिणी नक्षत्र था तथा प्रतिपदा का दिन ही पड़ रहा है, इससे यह बात पुष्ट हो जाती है कि धन्य तिथौ यहां प्रतिपदा का द्योतक है। वैसे अभिलेखों में इस तरह प्रयोग कम ही है।

(v)**सं.1×100+20+10+4+1+1 अयस अषडस मसस दिवसे 10+4+1।**[12] यह उदाहरण शक् पह्लव काल का है जिसमें 'अयस अषडस मसस' का टीकाकार ने अर्थ शुद्ध आषाढ़ मास के रूप में किया है। अर्थात् –अज्ञात सं. 136 के शुद्ध आषाढ़ मास के 15वें दिन। उक्त कथन में भी शुद्ध आषाढ़ के प्रयोग का अनुभव हो रहा है कि अधिक मास की प्रथा व प्रचलन उस काल में विद्यमान थी, लेकिन उसकी व्यवस्था क्या थी इसका ज्ञान इस कथन से भी ज्ञात नहीं होता किन्तु पूर्वोक्त बात की पुष्टि अवश्य होती है।

(vi) गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझाजी ने अपनी पुस्तक प्राचीन लिपि माला में कच्छ राज्य के अंशों गांव से मिले हुए क्षत्रप रूद्रदामन के समय के (शक) संवत् 52 (ईस्वी सन् 130) के 4 लेखों में 'गुरूवार' लिखा है (वर्षे द्विपंचाशे 50+2, फागुणबहुलस द्वितीया वी 2 ..... गुरुवास (रे) सिंहलपुत्रस ओपशतस गोत्रस लिखा हुआ अभिलेख मिला है।[13]

इस संवत् 52 में 78 वर्ष जोड़कर ईस्वी सन् 130 में गणना करते हैं तो 17 फरवरी 130 ईस्वी में पूर्णिमा के बाद दूसरा दिन आता है तथा वार गुरुवार आता है, किन्तु फाल्गुन महीने में गणितीय सिद्धान्तानुसार 78 के स्थान पर 79 वर्ष जोड़ने चाहिए जिसके अनुसार सन् 131 में फागुन के दूसरे दिन गुरूवार नहीं आ रहा है। गुरुवार का जिक्र मात्र गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने किया है। अन्य अभिलेखों के ग्रंथों में हमें नहीं मिला है तथा दूसरी शताब्दी ईस्वी में अन्य साक्ष्य में भी वार शब्द का उल्लेख नहीं मिलता इसलिए हमे लगता है कि उस समय तिथि अंकन के साथ वार का प्रयोग नहीं होता था।

संदर्भ :

1. दीक्षित, बालकृष्ण, भारतीय ज्योतिष, चोखम्भा विद्याभारती, वाराणसी, 1957, पृष्ठ 58,59,60,99। **2.** वैद्य, चिन्तामणि विनायक, महाभारत मीमांसा, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़ 1990, पृष्ठ 424। **3.** प्रसाद, गोरख, भारतीय ज्योतिष का इतिहास, हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ, 1974, पृष्ठ 71-73- 76-78। **4.**ओझा, गोरीशंकर हीराचन्द्र, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, शब्द महिमा प्रकाशन, जयपुर, 1996, पृष्ठ 3-4, पृष्ठ 103 पृष्ठ 110-111। **5.** वही पृष्ठ 112। **6.** वही पृष्ठ 112-113। **7.** पाण्डेय, राजबली, भारतीय पुरालिपि, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, 1998, पृष्ठ 184। **8.** वही पृष्ठ 185-186। **9.** वही पृष्ठ 184। **10.** वही पृष्ठ 183। **11.** वही पृष्ठ 176। **12.** वही पृष्ठ 181। **13.** ओझा, गोरीशंकर हीराचन्द्र, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, शब्द महिमा प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ 168।

❑❑

विभागाध्यक्ष
ज्योतिष एवं वास्तु संस्थान
जनार्दन राय नागर राजस्थान विद्यापीठ
विश्वविद्यालय, उदयपुर-313001
मो.9460030605

अवतारवाद और कृष्ण-भक्ति

डॉ. रामानन्द शर्मा

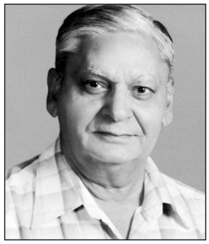

'अव' उपसर्गपूर्वक तृ तरणे धातु में घञ् प्रत्यय लगाने पर 'अवतार' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है– उतरना, ऊपर से नीचे आना, प्रकटित होना। ब्राह्मण धार्मिक परम्परा में वस्तुतः यह शब्द उन देवताओं के लिए प्रयुक्त होता है जो उद्देश्यविशेष से मानव शरीर धारणकर पृथ्वी पर जन्म लेते हैं या अवतीर्ण होते हैं और तब तक यहाँ रहते हैं जब तक उनका उद्देश्य पूर्ण नहीं हो जाता। 'हरिवंश' (41/17-20) में 'अवतार' के स्थान पर 'प्रादुर्भाव' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है– प्रकट होना या देवताओं का पृथ्वी पर जन्म लेना, लेकिन परवर्ती साहित्य में इस शब्द को स्वीकृति नहीं मिल सकी। ईश्वर का अवतरित होना सोद्देश्य होता है– यह तथ्य न केवल शास्त्र में स्वीकृत है, बल्कि समाज में भी मान्य है। आज भी जनसाधारण की यह प्रबल धारणा है कि जब-जब संसार की गति एवं कार्यों में अस्तव्यस्तता होती है और सज्जन इससे पीड़ित होने लगते हैं, तब-तब ईश्वर किसी न किसी रूप में शरीर धारण कर इस व्यवस्था को पुनः स्थापित करते हैं।

भारतवर्ष में अवतार-सिद्धान्त, युग और मन्वन्तरों के साथ जुड़ा हुआ है। जब-जब संसार गम्भीर संकट में पड़ जाता है, तब-तब कोई न कोई महामानव या महापुरुष इस अस्तव्यस्त होती व्यवस्था को सुधारने का संकल्प लेकर जीवन न्योछावर करता है और स्खलित होती सामाजिक व्यवस्था को पुनः पटरी पर लाता है जिससे न केवल व्यवस्था सुधरती है, बल्कि दूसरा युग प्रारम्भ हो जाता है। त्रेतायुग के समापन पर श्रीराम और द्वापर के अन्त में श्रीकृष्ण ऐसे महामानव हुए, जिन्होंने अपने-अपने समय में विरोधी परिस्थितियों का डटकर प्रतिरोध किया और समाज को सद्व्यवस्था देने का प्रयास किया। वस्तुतः असामाजिक एवं मानवविरोधी प्रवृत्तियों का नियमन कर सद्व्यवस्था का पुनरुद्धार करना ही अवतारवाद का प्रमुख लक्ष्य है।

यों 'ऋग्वेद' (1/154/2) में विष्णु के तीन डगों में पृथ्वी नापने की कल्पना भले ही मिल जाये और 'त्रिविक्रम' शब्द वामन या विष्णु के अर्थ में प्रचलित भले ही हो जाए, लेकिन वैदिक संहिताओं में अवतारों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, उत्तर वैदिक साहित्य में अवश्य मिल जाता है। शतपथ ब्राह्मण में मत्स्यावतार (2/9/1/1), कूर्मावतार (7/3/3/5) तथा वामनावतार (1/2/2/10) का उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय संहिता (7/1/5/1) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (1/3/3/5) में भी वामनावतार का वर्णन मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद (3/17/16) में देवकीनन्दन कृष्ण और महाभारत में वासुदेव कृष्ण का वर्णन आया है। सारतः समस्त उत्तर वैदिक साहित्य में मत्स्य, कूर्म, वामन और वराह की ही प्रधानता है, बाद में उपनिषदों में केवल कृष्ण का वर्णन आया है परन्तु अवतार के रूप में नहीं।

'ब्राह्मण ग्रंथों' में सर्वप्रथम मत्स्य, वराह, कूर्म और वामन का वर्णन आया है, लेकिन

इनका सम्बन्ध विष्णु से न मानकर प्रजापति से माना गया है। चोर के समान अदृश्य पृथ्वी का उद्धार वराह ने किया, इसलिए वराह को 'प्रजापति' (प्रजा = पृथ्वी, पति = स्वामी) कहा गया है (सोऽस्याः पतिः प्रजापतिः)। कूर्म के विषय में कहा गया है कि प्रजापति ने कूर्म का रूप धारणकर प्राणियों की सृष्टि की। कूर्म, कच्छप और कश्यप समानार्थी शब्द हैं और कश्यप प्रजापति सर्वविदित हैं। वामन का सम्बन्ध यज्ञ से माना गया है। असुरों से पृथ्वी प्राप्त करने के लिए यज्ञरूपी वामन ने अपने शरीर का विस्तार किया। इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं– प्रथम, वैदिक संहिताओं में अवतारवाद उपलब्ध नहीं होता, वह उत्तरवैदिक काल में विकसित हुआ है और तब भी इसक प्रचलन बहुत अधिक नहीं था, और द्वितीय, प्रारम्भ में इनका सम्बन्ध विष्णु की अपेक्षा प्रजापति से ही अधिक था। मत्स्यावतार जीवों, जड़ी-बूटियों और वनस्पतियों की रक्षा की भावना से ही सामने आते हैं। परवर्ती काल में वैष्णव भक्ति का विकास होने तथा उसमें अवतारवाद को मान्यता मिलने पर, सभी अवतार, विष्णु के मान लिये गये। यद्यपि ब्रह्मा, शिव आदि के अवतारों का भी स्वल्प विकास हुआ, लेकिन प्रबलता विष्णु के अवतारों की ही रही।

अवतारवाद का विशेष विकास पौराणिक काल में हुआ। कुछ लोगों का विश्वास है कि बौद्ध धर्म की महायान शाखा के विशेष प्रभावी होने पर गौतम बुद्ध की वस्त्राभूषणों से सज्जित मूर्तियां बनने लगी थीं, जिसका प्रभाव हिन्दू धर्म पर भी पड़ा। विक्रम की प्रथम शताब्दी में कुषाणवंशीय कनिष्क ने कश्मीर की राजधानी के पास, कुण्डल वन में, अश्वघोष की अध्यक्षता में धर्मसंगीति करायी थी जिसमें महायान शाखा के पाँच सौ भिक्षुक सम्मिलित हुए थे और तत्पश्चात ही बुद्ध की मूर्तियां बननी प्रारम्भ हुई थीं और ब्राह्मणों में भी उनके देवताओं की मूर्तियां बनने लगी। हालांकि कहा जाता है कि शिव की पूजा सिन्धुघाटी काल में भी होती थी और उसमें पशुपति ही एक मूर्ति भी उपलब्ध हुई है। जिस समय कनिष्क महायान की संगीति करा रहे थे, वही समय हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान का भी है। शुंगवंशीय पुष्यमित्र और कण्ववंशीय शालिवाहन आदि ब्राह्मण नरेशों ने न केवल अश्वमेध यज्ञ किये, धर्मग्रन्थों का सम्पादन भी कराया और पुरातन ब्राह्मण मान्यताओं को पुनर्स्थापित भी किया। बौद्धों को दण्डित करने के विषय में एकमात्र नाम पुष्यमित्र शुंग का ही लिया जाता है। लगभग यही वह समय है जब उत्तर वैदिक काल में जन्मा अवतारवाद पौराणिक काल में व्यापक रूप धारण करता है।

कालक्रम में पुराणों से पूर्व 'महाभारत' का नाम आता है। महाभारत का नाम 'शतसाहस्त्रीसंहिता' के रूप में, समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति (सन् 442 ई.) में आया है जिसका आशय यह है कि इससे कम से कम दो शताब्दी पूर्व अर्थात ईसा की दूसरी शताब्दी तक शतसाहस्त्रीसंहिता अर्थात एक लाख श्लोकों वाले 'महाभारत' की मान्यता जनसाधारण में व्याप्त हो चुकी थी और कौरवों पर पाण्डवों की विजयगाथा रूपी आठ हजार श्लोकों वाला 'जय' काव्य चौबीस हजार श्लोक वाला 'भारत' होकर अंततः एक लाख श्लोकों वाले 'महाभारत' का रूप धारण कर चुका था। इस 'महाभारत' के खण्डग्रन्थ 'गीता' में कृष्ण द्वारा स्पष्ट घोषणा की गयी– यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे। (4/8-8)। जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं स्वयं को रचता हूँ। सज्जन पुरुषों की रक्षा के लिए, दुष्ट पुरुषों के विनाश के लिए और धर्म की पुनर्स्थापना के लिए मैं युग-युग में प्रकटित होता हूँ।

उक्त घोषणा के बाद भी 'महाभारत' में अवतारवार की क्रमबद्ध और व्यवस्थित स्थिति नहीं मिलती। एक ओर अनुशासन पर्व में पितामह भीष्म श्रीकृष्ण को परात्पर ब्रह्म बताते हुए कहते हैं– 'सृष्टि के प्रारम्भ में इनकी नाभि से ही कमल उत्पन्न हुआ है और उसी के भीतर से अमित तेजस्वी ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) प्रकट हुए। समस्त प्राणियों की उत्पत्ति इन्हीं से हुई है। ये ही भयंकर बल वाले वराह के रूप में प्रकट हुए थे'। शान्तिपर्व में सृष्टि का विकास विष्णु से दिखाया गया है और वे ही वराह के रूप में अवतार धारण करते हैं। एक ओर गीता

में श्रीकृष्ण अपनी दिव्य विभूतियों का उल्लेख करते हुए स्वयं को आदित्यों में विष्णु, रुद्रों में शंकर, शस्त्रधारियों में राम और वृष्णिवंशियों में वासुदेव कहते हैं, लेकिन अपने अवतारों का कहीं वर्णन नहीं करते, तो दूसरी ओर शान्तिपर्व के नारायणीय उपाख्यान में विष्णु, जो नारायण, हृषीकेश, गोविन्द और केशव इन नामों से अधिक विख्यात हैं, के छह अवतारों का संक्षिप्त विवेचन आया है। ये हैं– वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, दाशरथि राम और बलराम (यद्यपि कथन तो वहां दश अवतारों का मिलता है, लेकिन वह श्लोक प्रक्षिप्त माना गया है)। साथ ही यत्र-तत्र सागर-मन्थन और मोहिनी अवतार, हयग्रीव, वामन आदि का स्वतन्त्र विवरण भी मिल जाता है। वस्तुतः 'महाभारत' न तो एक व्यक्ति की रचना ही है और न एक काल की रचना ही। इसके तीन नामों (वस्तुतः दो परिवर्धनों) का उल्लेख तो स्वयं ग्रन्थ में ही मिल जाता है– जय, भारत और महाभारत। इनमें 'भारत' में चौबीस हजार श्लोक थे जिसमें आख्यानों का नितान्त अभाव था। 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्' की भावना से समस्त पुराकथानकों, पुरुषार्थचतुष्टय से सम्बद्ध इतिवृत्तों, पुरातन इतिहासों आदि को इसमें समाविष्ट कर इसे शतसाहस्रीसंहिता अर्थात एक लाख श्लोकी संहिता बना दिया। कृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा रचित मूल ग्रंथ 'जय' में कालांतर में भिन्न-भिन्न रचनाकारों द्वारा मूल में लगभग बारह गुना वृद्धि से इस ग्रन्थ 'महाभारत' में रचनात्मक घालमेल आना स्वाभाविक ही थी और यही अवतारविषयक संख्या, क्रमबद्धता और अनिश्चितता का कारण भी है।

अवतारों की संख्यावृद्धि पुराणों में विशेष रूप से हुई। महाभारत के खिल भाग हरिवंश पुराण में ये नाम आये हैं– वराह, नृसिंह, वामन, दत्तात्रेय, जामदग्न्य (परशुराम), राम, कृष्ण और वेदव्यास। विष्णुयशा कल्की को भावी अवतार कहा गया है। वायुपुराण (98/64-104) में दस नाम आये हैं, लेकिन नामों में किंचित परिवर्तन है। नाम इस प्रकार हैं– वराह, नृसिंह, दत्तात्रेय, मान्धाता, जामदग्न्य, राम, वेदव्यास, वासुदेव और कल्की। विष्णुपुराण में परिगणित नाम कुछ भिन्न हैं। अवतारों का सबसे अधिक विस्तार भागवतपुराण में मिलता है जहाँ तीन स्थानों पर अवतारों का उल्लेख किया गया है। प्रथम स्कन्ध में 22 अवतारों का उल्लेख हुआ है। ये हैं– सनकादि, कूर्म, नारद, नरनारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभदेव, पृथु, मत्स्य, कच्छप, धन्वन्तरि, मोहिनी, नृसिंह, वामन, परशुराम, व्यास, राम, बलराम, कृष्ण, बुद्ध और कल्की (1/3/1-25)। द्वितीय स्कन्ध में 24 नाम आये हैं जिनमें ध्रुव, हयग्रीव, चक्रपाणि और हंस- ये नवीन हैं (2/7/1-38)। एकादश स्कन्ध में 17 नाम आये हैं जिनमें नरनारायण, हंस, दत्तात्रेय, सनकादि, ऋषभदेव, हयग्रीव और चक्रपाणि के अतिरिक्त बुद्ध सहित दस अवतार हैं (11/4/16-22)। समस्त पुराणों की गणना करने पर कुल 33 अवतार सामने आते हैं जिनमें दशावतारों के अतिरिक्त प्रमुख ये हैं– सनकादि, व्यास, नारद, नरनारायण, कपिल, दत्तात्रेय, ऋषभदेव, पृथु, धन्वन्तरि, मोहिनी, मान्धाता, हयग्रीव, चक्रपाणि, ध्रुव और हंस। ध्यातव्य है कि राजा नाभि की पत्नी मेरु देवी के गर्भ से उत्पन्न ऋषभदेव जैनों के प्रथम तीर्थंकर माने जाते हैं। यहां जैन और बौद्ध धर्मों के प्रवर्तक भी अवतारों में परिगणित हैं।

दशावतारों के मान्य नाम जिन्हें प्रायः सर्वानुमति मिली है, ये हैं– **मत्स्यः कूर्मो, वराहश्च नारसिंहोथ वामनः। रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्ध कल्की च ते दश।।** ग्यारहवीं शताब्दी में कवि क्षेमेन्द्ररचित 'दशावतारचरित' में ये ही नाम हैं– **मत्स्यः कूर्मो, वराहः पुरुषहरिवपुर्वामनो जामदग्न्यः। काकुत्स्थः कंसहन्ता स च सुगतिमुनि कर्कि नाम च विष्णुः।।** पुरुषहरि नृसिंह का पर्याय है (हरि=सिंह), काकुत्स्थ दाशरथि राम का (काकुत्स्थ वस्तुतः सूर्यवंशी राजाओं की उपाधि थी), सुगतमुनि बुद्ध का वाचक है और कर्कि तो कल्कि ही है (रलयोरभेदः)। दूसरी धारा वह है जो दशावतारों में बुद्ध का उल्लेख नहीं करती। उसके स्थान पर बलराम का उल्लेख करती है। 'महाभारत' के एक प्रक्षिप्त श्लोक में बुद्ध के स्थान पर बलराम का नाम ही उल्लिखित है- **मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहश्च वामनः। रामो रामश्च रामश्च कृष्णः कल्कि च ते दश।।**

यहां रामो रामश्च रामश्च' ध्यान देने योग्य है। प्रथम राम हैं जमदग्नि पुत्र राम, दूसरे राम हैं दाशरथि राम और

तीसरे राम हैं बलराम। यहां बुद्ध का नाम नहीं है।

वराहपुराण (15/10-19) में भी बुद्ध का नाम नहीं है, कुमारिल भट्ट ने भी बुद्ध को अवतार नहीं माना है और 'प्रपञ्चसार', जो आदि शंकराचार्य कृत कहा गया है, में भी बुद्ध अनुल्लिखित हैं। ऐसा क्यों हुआ– इसका कारण भी स्पष्ट है। बुद्ध ने यद्यपि ब्राह्मणों की सर्वोपरिता स्वीकार नहीं की, आत्मा की अमरता को भी नकारा और पुनर्जन्म के नाम पर भी शान्त ही रहे, लेकिन कर्मफल में आस्था, करुणा और लोककल्याण में श्रद्धा रखने के कारण उन्हें दशावतारों में परिगणित किया गया। किन्तु राजाश्रय प्राप्त होने पर भिक्षु भिक्षुणियों के अमर्यादित एवं उच्छृंखल आचरण, भिक्षुणीसंघों में होने वाले गर्भपातों और उससे समाज में फैलती वितृष्णा की भावना से परवर्तीकाल में उनका अवतारत्व भी छिन गया तथा बौद्ध धर्म सदा के लिए भारतवर्ष से विदा भी हो गया।

तीसरी धारा किंचित् विशिष्ट है और अलग भी। यह बुद्ध को स्थान तो देती है, लेकिन कृष्ण के स्थान पर बलराम को रखकर विष्णु के स्थान पर कृष्ण को रखती है अर्थात् ये दस अवतार विष्णु के नहीं, कृष्ण के हैं, सृष्टि के मूल पुरुष विष्णु नहीं, कृष्ण हैं। वे ही परात्पर ब्रह्म हैं और उन्हीं से सृष्टिचक्र प्रारम्भ होता है तथा उन्हीं पर वह पूर्ण होता है। महाबलिपुरम् के सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में निर्मित वराह-पेरुमल मन्दिर में प्राप्त शिलालेख में निम्न श्लोक तक्षित हैं–

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहश्च वामनः।
रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्की च ते दश।।

यहाँ कृष्ण का उल्लेख नहीं किया गया है, बल्कि उन्हें परात्पर ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है अवतार नहीं जो अवतारी है। इसका आशय यह है कि इससे कई शताब्दी पूर्व कृष्ण की परात्पर ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठा हो चुकी थी, भले ही वह सर्वस्वीकृत न रही हो। भागवतपुराण भी इसी रूप में कृष्ण की प्रतिष्ठा करता है–

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः।।
ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।
कला सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा।।
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे-युगे।।

– (1/3/26-28)।

हे ऋषियो! जिस प्रकार अगाध सरोवर से छोटे-बड़े हजारों नाले निकलते हैं, उसी प्रकार सत्त्वनिधि हरि के असंख्य अवतार हुआ करते हैं। ऋषि, मनु, देवता, मनुपुत्र और जितने भी शक्तिशाली हैं, वे सभी हरि के ही अंश हैं। ये सब तो हरि के अंशावतार या कलावतार हैं (अंश = कला = भाग), परन्तु श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान ही हैं। जब-जब दैत्यों के अत्याचारों से लोक व्याकुल हो उठता है, तब युग-युग में वे अनेक रूप धारण कर उसकी रक्षा करते हैं।

धर्म की रक्षा करने और दुष्टों के निग्रहण की बात वायुपुराण (98/69), मत्स्यपुराण (47/235) और महाभारत में भी उपलब्ध होती है, लेकिन वह विष्णु के सन्दर्भ में कही गयी है और उन्हें ही अवतारी माना गया है। भागवत ने कृष्ण को अवतारी रूप में प्रस्तुत किया है और इसे साहित्य में मान्यता देने वाले प्रथम और सशक्त कवि हैं गीतगोविन्दकार जयदेव। उनका श्लोक है–

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते।
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते। ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते काकारुण्यमातन्वते।
म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः।।

(1/5)।

मत्स्यावतार के रूप में वेदों का उद्धार करने वाले, कूर्मावतार के रूप में पृथ्वी को पीठ पर धारण करने वाले, वराहावतार के रूप में पृथ्वी का उद्धार करने वाले, नृसिंहावतार के रूप में हिरण्यकशिपु का विदारण करने वाले, वामनावतार के रूप में दैत्यराज बलि को छलने वाले, रामावतार के रूप में पुलस्त्य के वंशज रावण को जीतने वाले, बलराम के रूप में हल चलाकर कृषि-संस्कृति का विस्तार करने वाले, बुद्धावतार के रूप में प्राणिमात्र के प्रति करुणा का प्रसार करने वाले और कल्कि अवतार के रूप में म्लेच्छों का विनाश करने वाले इस प्रकार दस आकृतियां धारण करने वाले आप भगवान् कृष्ण को नमस्कार है।

भागवतपुराण का रचनाकाल नवीं शताब्दी से पूर्व नहीं माना जा सकता। इसकी रचना दक्षिण भारत के उस क्षेत्र में हुई है जहाँ कावेरी, ताम्रपर्णी, कृतमाला, महानदी, पयस्विनी आदि नदियाँ प्रवाहित होती हैं। वस्तुत? यह वही क्षेत्र है जो आलवार सन्तों की जन्मभूमि और कर्मस्थली रहा है। इनकी संख्या बारह मानी जाती है जिनमें एक गोदा या अण्डाल नामक स्त्री भी थी। इन्होंने विष्णु या उनके अवतार राम और कृष्ण के प्रति अनन्यभाव प्रकट किया है। नवीं-दसवीं शताब्दी में ही आलवारों के भक्ति आन्दोलन को वैदिक और शास्त्रीय स्वरूप देने वाले आचार्यों का उदय हुआ और शंकराचार्य (788-820 ई.) के अद्वैतवाद के स्थान पर विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना की गयी। सर्वप्रथम नाथ मुनि (सन् 824-924) हुए जिन्होंने भक्तिपूर्ण गीतों का संकलन कर श्रीरंग के प्रसिद्ध मन्दिर में गायन की व्यवस्था की। ये विशिष्टाद्वैत के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। इनके पौत्र यमुनाचार्यजी ने अद्वैतवाद का प्रबल खण्डन करके विशिष्टाद्वैतवाद का प्रबल समर्थन करते हुए विष्णु की श्रेष्ठता प्रदर्शित की। लेकिन वैष्णवों में सर्वाधिक प्रसिद्ध आचार्य हुए रामानुज (सन् 1016-1137)। इस आचार्यमण्डली से उत्तर भारत में चार भागवत सम्प्रदाय विकसित हुए– श्री, ब्राह्म, सनकादि और रुद्र। श्रीसम्प्रदाय में राघवानन्द के शिष्य रामानन्द हुए, जिन्होंने भक्तिभाव में जाति-पांति के भेदभाव को समाप्त करते हुए भक्ति को योग के साथ समन्वित किया, साथ ही लक्ष्मीनारायण के स्थान पर सीताराम की भक्ति को प्रोत्साहित किया। इसी धारा में गोस्वामी तुलसीदास, नरहरिदास, कृष्णदास पयहारी आदि हुए। जिन्होंने रामभक्ति के साथ योग और शृंगार को समन्वित किया।

ब्राह्म सम्प्रदाय में आचार्य मध्व दक्षिण भारत में कृष्णभक्ति का प्रचार करते रहे, उत्तर भारत में भी उनका आगमन होता रहा। वे राधा का अस्तित्व नहीं मानते थे। सनकादि सम्प्रदाय के प्रबल आचार्य हुए तैलंग ब्राह्मण निम्बार्क जो द्वैताद्वैतवाद को स्वीकारते हैं। ये कृष्ण को सर्वेश्वर मानते हैं और उनकी प्रेमशक्ति राधा सहित युगल उपासना को स्वीकृति देते हैं क्योंकि भक्तों की अभिलाषा की पूर्ति श्रीराधा ही कर सकती हैं। मथुरा-वृन्दावन में कृष्णभक्ति के प्रचार का श्रेय उन्हीं को है और हिन्दी कवियों पर सर्वाधिक प्रभाव इसी सम्प्रदाय का पड़ा है। इस सम्प्रदाय का राजस्थान और बंगाल में विशेष प्रचार हुआ। रुद्र सम्प्रदाय के प्रवर्तक विष्णुस्वामी माने जाते हैं। इसकी एक शाखा महाराष्ट्र में विकसित हुई जिसमें नामदेव, ज्ञानदेव जैसे भक्त हुए तो दूसरी शाखा में वल्लभाचार्य हुए जिन्होंने गोवर्धन में संवत् 1556 में श्रीनाथजी की मूर्ति स्थापित की। उनके पश्चात् उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने अष्टछाप की स्थापना की जिससे कृष्णभक्ति का विशेष प्रचार हुआ और बालकृष्ण की विविध लीलाओं का गायन किया गया। लेकिन परवर्ती कवियों ने बाललीलाओं की अपेक्षा माधुर्य भाव को विशष महत्त्व प्रदान किया। गोस्वामी हितहरिवंश, स्वामी हरिदास आदि एकान्त रूप से राधाकृष्ण की प्रेमक्रिड़ाओं का वर्णन और कीर्तन करते रहे। कृष्ण चैतन्य ने उच्च स्वर में नृत्यपूर्वक कीर्तन को विशेष महत्त्व दिया। वृन्दावन व्रजप्रदेश है जहाँ श्रीकृष्ण ने बाललीलाएँ सम्पन्न की हैं, अतः वहाँ सभी कृष्णभक्ति सम्प्रदायों ने अपने आश्रम/मन्दिर स्थापित किये और कृष्णभक्ति का प्रचार किया। यही कारण है कि भागवत के माहात्म्य में भी यह स्वीकार किया गया है–

वृन्दावनस्य संयोगात् पुनस्त्वं तरुणी नवा।
धन्यं वृन्दावनं तेन भक्तिनृत्यति यत्र य।।

वृंदावन धन्य है जिसके संयोग से भक्ति नवीन और तरुणी हो गयी है। लेकिन उसके अंग रूप ज्ञान और वैराग्य का यहां कोई सम्मान नहीं है अर्थात् यहां की भक्ति के मूल में भोग है, वैराग्य नहीं।

❒❒

– डी.लिट् (पूर्व प्राचार्य,
हिन्दू कालेज, मुरादाबाद) साहित्यपीठ
ई-89, वेवग्रीन कॉलोनी,
कांठ रोड,
मुरादाबाद-244105
मो. 9412506917/ 9634752154

पुराणों एवं साहित्य में राधा-कृष्ण

गोपाल जी गुप्त

लोक मानस में रसवंती, गोपकन्या राधा के उद्‌भव एवं कृष्ण से उनके संबंध को लेकर सभी विद्वान एकमत नहीं हैं। इसका कारण यह है कि कृष्ण-राधा के संबंध का तथा राधा का उल्लेख महाभारत, भागवत तथा हरिवंश पुराण में नहीं मिलता। बावजूद इसके किस तरह लोक-मानस में राधा की जड़ें इस तरह जम गयी हैं कि राधा के बिना कृष्ण को अपूर्ण माना जाने लगा तथा राधा-कृष्ण भाव जगत में भक्ति, आस्था, पूजा, प्रेम, माधुर्य की युगलमूर्ति बन ईश्वर के रूप में उपास्य हो गए।

संस्कृत ज्योतिष ग्रंथों में धन नक्षत्र को राधा नाम मिला है जिसे पौराणिक वांगमय में रसवंती, कृष्ण-प्रिया, कृष्ण-सखी कहा गया। अन्यत्र उसको वामार्धा, तेजोमयी, रत्नभरणा, कोटिपूर्ण शशिप्रभा, तप्त कंचनवर्णा, सस्मित नयना आदि आदि विभूषणों से स्मरण किया गया। जयदेव ने सरिव वदना, दंतरुचि कौमुदीयुक्ता, अलक्तरस दंजिता स्थल, कमलांचित पदयुगला जैसे काव्यालंकारित वर्णन इस भोरी गोरी अहीरन की छोरी को समर्पित किये हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण में प्रकृति को ही ब्रह्म की लीला तथा माया कहा गया, वही कृष्ण की राधा है, आकाश की नीलिमा और रश्मियों की पीतिमा मिल सृष्टि में हरीतिमा शतदल की भांति चतुर्दिक छायी है– जा तन की झाईं परत स्याम हरित दुति होय।

पौराणिक वांगमय में राधा के उद्‌भव को लेकर कई प्रसंग मिलते हैं। भविष्य पुराणानुसार राधा अयोनिजा हैं, उनका प्राकट्य भाद्रशुक्ल अष्टमी को वृश्चिक लग्न, अनुराधा नक्षत्र में हुआ। गर्ग संहिता के अनुसार वह वृषभान की तथा कीर्तिदा की पुत्री है, अतः उनका जन्म मूल नक्षत्र में हुआ वृषभान ने मांगलिक अनुष्ठान कराया। आगे संहिता ने राधा को कृष्ण की तटस्थ प्रकृति प्रधान सगुण माया भी बतलाया है (गर्ग संहिता-12/32)। पद्मपुराण राधा को वृषभानु नामक वैश्य की पुत्री बताता है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में वह कृष्ण के वामांग से प्रकटी शडषी कन्या, प्रकृति स्वरूपा, कृष्ण प्रिया तथा कृष्ण सखी के रूप में वर्णित है। शोधार्थियों के अनुसार राधा का जन्म ईसा पूर्व 3229 की भाद्रशुक्ल अष्टमी को मध्याह्न में हुआ था। शशिभूषण दास गुप्त के अनुसार राधा का उद्‌भव आभीरों की लोकधर्मी आद्यशक्ति के रूप में हुआ जो काफी समय बाद वैष्णवों द्वारा कृष्ण के साथ देवी रूप में पूज्या बनी।

राधा-तंत्र में कृष्ण की व्याख्या करते हुए (क + ऋ + ष + ण) कामिनी कला (क), वैष्णवीकला (ऋ), षोडशकला युक्त चन्द्रमा (ष) तथा आनन्दरूपणी राधा (ण) कहा गया है। ब्रह्मवैवर्तपुराण- कृष्ण जन्मखंड (अध्याय 17) में राधा शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए 'रा' को दानवाचक तथा 'धा' को समृद्धिवाचक कहा गया। गर्गसंहिता में राधा (र+आ+ध+आ) पापनाशक (र), अकालमृत्यु नाशक (आ), आयुवर्द्धक (ध), मुक्तिदायक (आ) कही गयी हैं। नारद पांचरात्र

में राधा नामोच्चारण से भक्ति, मुक्ति, शक्ति, हरिपद की प्राप्ति होने का उल्लेख है (रा शब्दोच्चारणं शक्तौ भक्तिं मुक्तिं च साति राः। धा शब्दोच्चारणे नैव धारयेव हरिपदम्।2।3।38)।

ब्रह्मवैवर्तपुराण-प्रकृति खण्ड (अध्याय 49) के अनुसार किशोरावस्था में राधा का विवाह यशोदा के भाई रायण से हुआ था, इस तरह राधा कृष्ण की मामी थी। उसी अध्याय में आगे यह भी उल्लेख है कि ब्रह्मा ने राधा का विवाह विधिपूर्वक कृष्ण से कराया। फिर यह भी मिलता है कि राधा का विवाह कृष्ण से हुआ, जबकि उसकी छाया का विवाह रायण से हुआ। उपर्युक्त विवरणों के अनुसार एक ओर तो राधा कृष्ण की स्वकीया हैं दूसरी ओर परकीया कहीं उल्लेख है कि भारतवर्ष में परकीया प्रेम प्राचीन काल में एक सम्प्रदाय का धर्म जैसा था। कहा जाता है कि ऋग्वेद (10-129-25) में इस परकीया प्रेम का समर्थन है। अथर्ववेद (9-5-27-28) में इसका स्पष्ट वर्णन होना बताया गया है। छान्दोग्योपनिषद (2-13-1) के 'कांचन परिहरेत' मंत्रांश का आचार्यशंकर ने उक्त अर्थ किया है। पर इस मतवाद को वैदिक युग में अच्छा नहीं समझा जाता होगा।[1] चैतन्य सम्प्रदाय में परकीया प्रेम को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है तथा इसे प्रेम की चरम सीमा बतलाया गया है।[2] किन्तु समाज में इसका निषेध किया गया है।[3]

एक प्राचीन तमिल ग्रंथ शिलप्पदीकरम् में राधा की जगह नेप्पिनाई नाम है जिसको कृष्ण की पत्नी बतलाया गया है। सूरदास ने भी एक स्थान पर राधा का कृष्ण के साथ ब्याह रचाने का वर्णन किया है।[4]

बाजहिं जे बाजा सकल नभसुर पहुप अंजलि बरसहीं।/ थाकि रहे व्योम विमान मुनिगन जै सबद करि हरसहीं।। सूरदासहिं भयो आनन्द पूजी मन की साधा।/ श्रीलाल गिरिधर नवल दुल्है दुलहिन श्री राधा।।

वारने तोरने बंधाये हरि कीन्हो उद्वाह। ब्रज की सब रीति भई बरसाने व्याह।।...

दुलहिन बृषभानु सुता अंग अंग भ्राज। सूरदास प्रभु दूलह देखो श्री ब्रजराज।।

पुराणों के अनुसार राधा कृष्ण से वय में ज्येष्ठा हैं। उनका कृष्ण से प्रथम दृग मिलन होता है और कृष्ण उन पर रीझ उठते हैं–'सूरस्याम देखत ही रीझो नैन नैन मिलि परी ठगौरी।' फिर राधा-कृष्ण का प्रेम परवान चढ़ने लगा। प्रेम अंधा होता है। वह न तो उम्र देखता है न जातपात, न धर्म अधर्म, न उचित अनुचित क्योंकि प्रेम ऐसी सर्वोच्च भावना है जिसमें बाधा रहित प्रवाह होता है। डॉ. शिवप्रसाद सिंह का कथन है, 'राधा किसी नारी का नाम नहीं, नारी जीवन की सम्पूर्ण गरिमा, तेजोद्दीपता, समर्पण, प्रेम की अनन्यता, सम्पूर्ण सौंदर्य, शील का... अभियान... प्रेम साधना की परिणति है।'[5] वस्तुतः स्त्री पुरुष की पूर्णता है, राधा कृष्ण की संजीवनीपूर्ण शक्ति और प्रथम प्रणयिनी होने से वह स्वकीया हैं, भले ही लौकिक रूप से प्रेम हेतुक होने से परकीया रही।

सूरदास के सूर सागर के अनुसार राधा कृष्ण की पूरक बनती गयी, राधा के बिना कृष्ण अपूर्ण कहे गए। राधिका तापनीयोपनिषद में राधा तथा कृष्ण को एक ही शरीर, अभिन्न, नित्य बताया गया जो मात्र लीला हेतु दो रूप वाले हुए। कृष्ण का महत्वपूर्ण अंश आनन्द है, उनको रसानन्द कहा गया है। अद्वैत मतानुसार जीव सत-चित्-आनन्द अर्थात सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, राधा कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति, लीला की आश्रय हैं।[6] राधोपनिषद में कहा गया है कि राधा कृष्ण की आराधना करती हैं, इसी से उन्हें, राधिका कहते हैं। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म को माधुर्य तथा आनन्दानुभूति में ही पाया जाता है। असमान्यता, चमत्कार, दीप्ति आदि से परे स्वतंत्र आकर्षण ही माधुर्य का गुण है, हृदय की सम्पूर्ण व्यापकता, दीप्ति, माधुर्य है- (सर्वावस्या विशेषेसु माधुर्य रमणीयता), राधा इसी माधुर्य की रूप होने से कृष्ण-प्रिया, मधुरिमा हैं।

राधा के माधुर्य पर सृजित अनेक ग्रंथों में से कुछ उल्लेखनीय ग्रंथ हैं– पदावली (चंडीदास, गीत गोविन्दम् (जयदेव), पदावली (विद्यापति), सूरसागर (सूरदास), रासपंचाध्यायी (नन्ददास), सतसई (बिहारी) आदि जिनमें राधा को अलग-अलग रूपों- जैसे मोहक छविवाली, प्रेममयी, प्रेमिका, भोग-विलासनी, वियोगिनी, स्वकीया, परकीया में चित्रित किया गया है। राधा के सौंदर्य वर्णन में विद्यापति ने अपना हृदय उड़ेल कर रख दिया। विद्यापति तथा जयदेव ने तो राधा-कृष्ण के श्रृंगारिक संयोग पक्ष वाले वर्णन में मर्यादा की सीमा रेखा का

उल्लंघन कर डाला है। सूरदास ने राधा-कृष्ण के प्रेम का पूरा वर्णन अपनी रचनाओं में किया, किन्तु उन्होंने कहीं भी मर्यादा की सीमा रेखा नहीं लांघी। रसखान ने भी राधा के सौंदर्य का वर्णन किया और प्रकृति का अवलम्ब लेते हुए खंजन, मृग, मीन आदि को लज्जित होना दिखाया है।

राधा कृष्ण से इतना अधिक प्रेम करती थी कि क्षणांश भी उनसे दूर रहने की कल्पना मात्र से मूर्छित होने लगती थी। राधा ने कृष्ण से उदात्त प्रेम किया, बचपन का साख्य प्रेम विवाहेतर सम्बन्ध में परिवर्तित हो गया। उन्होंने परिवार, पति, धर्म, समाज की परवाह न करते हुए अपना सर्वस्व कृष्ण को अर्पित कर सदैव कृष्ण के प्रति एकनिष्ठ बनी रही, किन्तु कृष्ण ने अचानक ही एक दिन मथुरा जाने की तैयारी की और राधा को छोड़ चले गये। कृष्ण के चले जाने के बाद वियोगिनी राधा अपने प्रेम में अटल रह आजीवन एकाकीपन की विरहाग्नि में जलती रही। कुछ समय बाद उद्धव ब्रज आये पर मानिनी राधा उनसे नहीं मिली। लगभग नौ दशक के उपरांत सूर्यग्रहण के अवसर पर ब्रजवासियों के साथ राधा कुरुक्षेत्र गयी, कृष्ण-विरह में जलती राधा को आशा थी कि कृष्ण उससे मिल उसका हाल पूछेंगे। कृष्ण आये भी पर रुक्मिणी के साथ जिसे देख राधा आहत हो स्वागतार्थियों की भीड़ के बीच खड़ी हो गयी। रुक्मिणी ने कभी राधा को देखा नहीं था और पहचानती नहीं थी, किन्तु उसे पता था कि राधा भी आयी हैं। उन्होंने कृष्ण से पूछा कि क्या राधा नहीं आयी हैं? कृष्ण ने भीड़ के बीच खड़ी राधा को देख लिया था। उन्होंने नीलवसन, गोरी राधा की ओर संकेत कर राधा की उपस्थिति का आभास रुक्मिणी को करा दिया (देखो जुबति वृंद में ठाढ़ी नील वसन तनु गोरी। सूरदास मेरी मन बाकी चितवन देखी हरयो री।।)।

उत्तर भारत में चौथी-पांचवीं शताब्दियों में गुप्त साम्राज्य में कृष्णोपासक भागवत सम्प्रदाय का उत्थान हुआ और फिर 14वीं शताब्दि के अंत तक भागवत सम्प्रदाय नव्य रूप में विकसित हो चुका था। भले ही महाभारत, भागवत, हरिवंशपुराण में राधा का नाभील्लेख नहीं था किन्तु इस समय में राधा कृष्ण सम्पूर्ण भाव जगत में समा चुके थे, उनके प्रति आस्था, श्रद्धा, भक्ति पूजा के कई केंद्र बन चुके थे। उस समय सृजित ब्रज भाषा के साहित्य में राधा-कृष्ण का व्यापक वर्णन होने लगा था, राधा कृष्ण अभिन्न एकरूपा हो गये थे (तस्मानत राधा रसिकानंदां वेदविको वदत्ति– श्रीमदभागवत् 10/30/28) का जयदेव (12वीं शताब्दि) का गीत गोविंदम् राधा कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं का आधार बना और अनेक कवियों ने राधा के प्रेम मनःपूत विविध आविष्कारों में राधाकृष्ण को प्रस्तुत किया, अनेक गीति काव्यों का सृजन हुआ। डॉ. विजयेंद्र स्नातक के अनुसार शक्ति एवं तांत्रिक परम्परा ने राधा-कृष्ण सम्बन्ध को सुदृढ़ बनाया। मध्य युग (10-17 शताब्दि) में शाक्तों एवं तांत्रिकों का प्रभाव पूर्वी भारत से लेकर उत्तरी भारत तक पड़ा जिस रूप में शक्त्युपासना हो रही थी, उसे वैष्णव भक्ति में समन्वित करने की दृष्टि से राधा-कृष्ण की उपासना, पूजा ने भी जोर पकड़ा। राधा-कृष्ण संबंधी ग्रंथों में कवियों, साहित्यकारों ने युगल मूर्ति को आराध्य बना दिया। सहज, सरल, घरेलू संबंध, प्रेम माधुर्य से आनन्द का स्रोत प्रवाहित होने लगा। राधा को विशिष्ट महत्व मिला, एक सुदृढ़ पहचान मिली और वह अपनी प्रेमाभिभक्ति के चलते कृष्ण के साथ पूजी जाने लगी, कृष्ण के पहले उनका नाम लिया जाने लगा। और अब तो ब्रजमंडल सहित सर्वत्र 'कृष्ण-कृष्ण की जगह बड़भागिनी 'राधे-राधे' की पुकार हो रही है।

संदर्भ

1. डॉ. मुकुंद तिवारी (सम्पादक)- हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली (4), पृ.40। **2.** M.M. Bose : Post chaitanya cult- (Ch.I, Doctrin of Love)। (वसुदेव घोष कीर्तन में कहते थे- परकीया भावे अति रसेर उल्लास/व्रज विना इहार अन्यत्र नहिं बास।।)। **3.** डॉ. मुकुंद तिवारी-उपर्युक्त ग्रंथ- पृ. 42। **4.** तदैव- पृ.40। **5.** डॉ. शिवप्रसाद सिंह- विद्यापति-पृ.111। **6.** M.M. Bose : Op.at., P.230-235।

❑❑

–प्रेमांगन, एमआईजी
292, कैलास विहार,
आवास विकास योजना-एक, कल्याणपुर,
कानपुर-208017
फोन- 0512-2571795

श्रीमदभगवद्गीता में ध्यान-योग के साधन

डॉ. अजित कुमार

गीता के छठे अध्याय में ध्यान-योगी के लक्षण बताये गए हैं। वे लक्षण क्या हैं। उस ध्यान-योगी का व्यवहार कैसा होता है? भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– 'जिस प्रकार वायु-रहित स्थान पर रखे हुए दीपक की लौ कांपती नहीं है, ठीक उसी प्रकार जिसका चित्त वश में है और जो आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ने के प्रयत्न कर रहा है, वह ध्यान-योगी है। जिस अवस्था में पहुंचकर, योग के अभ्यास द्वारा चित्त निरुद्ध और उपराम को प्राप्त हो जाता है, जिस अवस्था में अपनी आत्मा के द्वारा ही आत्मा (परमात्मा) को पहचान कर अपने में संतोष पाता है, जिस अवस्था में पहुंचकर इन्द्रियों से न प्राप्त होने वाले किन्तु बुद्धि से प्राप्त होने वाले परम सुख को अनुभव करता है, जिस अवस्था में स्थित होकर यह अपने तत्व (अपने मूल) से चलायमान नहीं होता, डिगता नहीं है, जिसे पा जाने पर यह समझता है कि इससे बड़ा दूसरा कोई लाभ नहीं है और जिसमें स्थित हो जाने पर यह बड़े से बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता है, वह ध्यान योगी है।[1]' इस ध्यान योगी की स्थिति को प्राप्त करने के लिए कौन-कौन साधन हैं, उन सभी साधनों का विस्तृत-विवेचन यहां किया गया है।

भगवद्गीता के टीकाकारों का मानना है कि गीता तीन भागों में विभाजित है। गीता में अठारह अध्याय हैं। जिसमें से प्रथम छह अध्यायों में कर्मयोग का वर्णन है। सातवें अध्याय से लेकर 12वें अध्याय तक भक्तियोग का वर्णन है और 13वें अध्याय से लेकर 18वें अध्याय तक 'ज्ञानयोग' का विषय है। परन्तु गीता के टीकाकारों ने इन तीनों (कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग) में से किसी एक को अपनी दृष्टि से विशेष रूप से महत्त्व दिया है। जैसे शंकराचार्य आदि अद्वैतवादी गीता को 'ज्ञानयोग' का ग्रन्थ मानते हैं, रामानुजाचार्य आदि विशिष्टाद्वैतवादी तथा माध्वाचार्य आदि द्वैतवादी गीता को 'भक्तियोग' का ग्रन्थ मानते हैं, बालगंगाधर तिलक आदि कर्मवादी गीता को 'कर्मयोग' का ग्रन्थ मानते हैं। ये सभी टीकाकार यदि यत्र-तत्र अपनी मान्यता के विपरीत किसी विषय को देखते हैं तो वहाँ पर अपनी मान्यता के अनुसार समाधान देने का प्रयास करते हैं। गीता में वास्तविक रूप में तीनों मार्गों का प्रतिपादन किया गया है और तीनों द्वारा जीवन में शान्ति की प्राप्ति होती है, यह भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं घोषणा की है– *ये यथा मां प्रपद्यन्ते तास्तथैव भाजाम्यहम्।* 'अर्थात् जो जिस मार्ग से भगवान को पाना चाहता है, ज्ञान मार्ग से हो, भक्ति मार्ग से हो, कर्म मार्ग से हो, सब मार्गों से वहीं पहुँचते हैं, इन मार्गों में आपस में कोई विरोध नहीं है।[2] जो व्यक्ति इन मार्गों में परस्पर विरोधाभास ढूंढते हैं, वे गीता के वास्तविक तत्त्व को नहीं समझते।

प्रत्येक मनुष्य की मानसिक संरचना अलग-अलग होती है। किसी मनुष्य को ज्ञान का मार्ग सरल लगता है, किसी को भक्ति का मार्ग और किसी को कर्मयोग का मार्ग सरल प्रतीत होता

है। जिसको अपनी रुचि के अनुसार जो मार्ग अनुकूल प्रतीत हो, वह उस मार्ग का अनुगमन करे, परन्तु संसार के सभी प्राणी कर्म करते हैं, क्योंकि कर्म से बचना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव-सा प्रतीत होता है, इसलिए कर्मयोग का मार्ग सरल होने से सभी के लिए सबसे अधिक व्यावहारिक है। गीता में इसी कर्मयोग का पहले छह अध्यायों में विस्तृत विवेचन किया गया है। छठे अध्याय में इस कर्मयोग का साधन क्या है, यह विस्तार से समझाया है।

कर्मयोग का अर्थ है– 'काम तथा क्रोध' को त्याग देना इसी को 'निष्काम-कर्म' कहते हैं। यह तभी हो सकता है जब इन्द्रियों को उनके विषयों से नियन्त्रित किया जाए और इन्द्रियों पर नियन्त्रण ध्यान द्वारा ही किया जा सकता है। वह ध्यान करने की प्रक्रिया क्या है, उस 'ध्यान' का उपाय क्या है, इसी ध्यान का वर्णन गीता के छठे अध्याय में किया गया है। छठे अध्याय का नाम ही 'ध्यान-योग' अथवा 'आत्म-संयम-योग' है। यह ध्यान योग पूर्व में कह गए तीनों योगों से भिन्न कोई चौथा योग नहीं है अपितु यह 'ध्यान योग' 'कर्मयोग' का साधन है। ध्यान को ही यहाँ पर 'घ्यान योग' अथवा 'आत्मसंयम योग' कहा गया है। आगे आने वाले छह (7-12) अध्यायों में भक्तियोग का वर्णन आएगा इसलिए इस छठे अध्याय में 'ध्यान योग' का विवेचन करके 'भक्ति योग' की नींव स्थापित कर दी है।

गीता में श्रीकृष्ण ने जो 'कर्म-योग' का अर्थ किया है, वह है 'फल की प्राप्ति की आसक्ति का त्याग करना'।[3] फल की आसक्ति त्याग देने से 'कर्म', 'अकर्म' हो जाता है, तब योग तथा सांख्य में कोई भेद नहीं रहता है क्योंकि सांख्य या संन्यास-मार्ग में भी जब कर्मों के त्याग की बात की जाती है तब उसका तात्पर्य कर्मों के फलों की प्राप्ति की आसक्ति को छोड़ना ही होता है। 'कर्मयोग' भी यही कहता है, परन्तु फल की आसक्ति का त्याग कर देना कोई सरल कार्य नहीं है। यह आसक्ति कैसे दूर हो? इसी शंका का समाधान करते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि इसका उपाय 'इन्द्रिय-निग्रह' है।[4] जब तक इन्द्रियों विषयों की ओर आकृष्ट होती रहेंगी विषयों का संकल्प करती रहेंगी, उनमें रस लेती रहेंगी तब तक तो आसक्ति छूट ही नहीं सकेगी। विषयों का रस हमें सदा फल प्राप्ति के लिए अपनी ओर आकर्षित करेगा। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं 'इन्द्रियों के दासत्व से छूटकर, इन्द्रियों का आश्रय न लेकर, अपने-आप पर विश्वास करके उठ खड़ा हो, अपने-आपको कभी भी नीचे न गिरने दे। मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु है।[5] इसी विचार को पकड़कर मनुष्य को अपने उद्धार के लिए साधना में लग जाना चाहिए। गीता में ध्यानयोग के साधनों का वर्णन करते हुए जिन साधनों का प्रतिपादन किया है वे हैं–

(1) सतत ध्यान– 'साधक को ध्यान निरन्तर प्रतिदिन करना चाहिए– 'योगी युञ्जीत सततम्'।[6] ध्यान कभी किया कभी नहीं किया इससे कोई विशेष लाभ नहीं होता है। प्रतिदिन लगातार ध्यान का अभ्यास करने से चेतना जागृत हो जाती है और उर्ध्वमुखी विकास प्रारम्भ हो जाता है। योगदर्शन के साधन-पाद में महर्षि पतंजलि लिखते हैं– 'योगसाधक को निरन्तर दीर्घकाल तक ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। जो अशुद्ध संस्कारों का संग्रह अधिक मात्रा में एकत्रित हो जाता है, वह बुरे संस्कारों का संग्रह बिना निरन्तर ध्यान के दग्धबीज को प्राप्त नहीं होता है। जो साधक दीर्घकाल पर्यन्त निरन्तर अभ्यास करते हुए निराशाग्रस्त नहीं होता, वह योग-पथ पर आगे बढ़ता हुआ अवश्य सफल होता है।[7]

(2) एकान्त ध्यान– 'ध्यान का दूसरा नियम यह है कि वह एकान्त में करना चाहिए-'आत्मानं रहसि स्थितः।[8] इसीलिए प्राचीन समय में ऋषि-मुनि गंगा के किनारे या हिमालय की कन्दराओं में रहते थे, जहाँ पर सांसारिक कृत्रिम वातावरण के स्थान पर प्रकृति का स्वाभाविक वातावरण होता था, जहाँ बैठते ही साधक स्वयं अपने-आप ध्यान की स्थिति में उतर जाता था।

(3) एकाकी ध्यान– ध्यान का तीसरा नियम यह है कि 'एकान्त में अकेला बैठकर अपने मन को वश में करके वासना को छोड़कर अपने मन को परमात्मा के साथ लगातार जोड़ें।[9] सभी के बीच में बैठकर ध्यान नहीं लगता है। अकेले में उस महान विश्व-शक्ति का सूक्ष्म स्पन्दन हृदय को एकदम स्पर्श करता है, इसलिए

करता है, क्योंकि वहां पर विक्षोभ (चंचलता) उत्पन्न करने वाले अन्य कारण विद्यमान नहीं रहते हैं।

(4) इन्द्रिय-निग्रह– इन्द्रियों का संयम। गीता की दृष्टि में इन्द्रियों के निग्रह का यह तात्पर्य नहीं है कि इन्द्रियों को विषयों से भूखा मार दिया जाए। जो व्यक्ति इन्द्रियों के संयम या निग्रह का अर्थ इन्द्रियों से कार्य न लेना मान लेते हैं, वे गीता के अभिप्राय को नहीं जानते। गीता तो 'युक्त' शब्द पर बल देती है। व्यक्ति इन्द्रियों से कार्य ले, परन्तु कितना? जितने को 'युक्त' (ठीक-ठीक) कहा जा सके। न तो मनुष्य इन्द्रियों का दास ही हो, न ही इन्द्रियों को तड़पाता ही रहे। जो व्यक्ति इन्द्रियों का निग्रह करने के लिए वन में भाग जाता है, वह जितेन्द्रिय नहीं है, पराजितेन्द्रिय है वीर नहीं, भीरू है। महात्मा गाँधी ने ठीक कहा है– होंठ सी लेने से, जीभ काट लेने से मौन अवश्य सिद्ध हो सकता है, परन्तु सच्चा मौन नहीं है। सच्चा मौनी वही है जो वाक्-शक्ति अविकल होते हुए भी मुख से व्यर्थ में अपशब्द प्रयोग नहीं करता।[10]

(5) वासना-त्याग– 'व्यक्ति इन्द्रियों से चित्त को दूर करके एकान्त में बैठ सकता है, परन्तु फिर भी विषयों की वासना उसे पीड़ित कर सकती है। वह विषयों का आस्वाद तो नहीं लेता, परन्तु विषयों के भोग की वासना को हृदय में लिए हुए बैठा रहता है। इसलिए ध्यान का यह नियम है कि इन्द्रियों को ही विषयों से खींचकर सन्तुष्ट न रहे, अपितु विषयों की वासना का भी त्याग करे।[11] अगर एकान्त में बैठकर, विषयों से दूर हटकर भी विषयों के ध्यान में डूबा रहे तो एकान्त भी व्यर्थ है, एकाकीपन भी व्यर्थ है।

(6) अपरिग्रह– अपरिग्रह का अर्थ है- 'संसार के बन्धन के कारण धनादि भोग्य पदार्थों के संग्रह करने में दोष, संग्रह किए हुओं की रक्षा करने में दोष, उनके नष्ट होने में दोष, उनमें आसक्त होने में दोष दिखाई देने से इन भोग्य पदार्थों का संग्रह न करना ही 'अपरिग्रह' है।[12] जो इन इन्द्रियों के विषयों से अपने मन को लौटा लेता है और जिसमें इन इन्द्रियों के विषयों के प्रति लालसा भी नहीं रहती उसका जीवन अपरिग्रह से परिपूर्ण हो जाता है, वह संसार की किसी भोग्य वस्तु से चिपकता नहीं है, उसे संग्रह करके रखने की लालसा नहीं रहती है।

(7) एकाग्रता– भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं- हे पार्थ! जब मनुष्य अपने मन में गति करने वाली सभी कामनाओं का त्याग कर देता है और जब वह अपने आप में ही सन्तुष्ट रहने लगता है (अपनी सन्तुष्टि के लिए बाहरी विषयों की खोज नहीं करता है) तब वह स्थित प्रज्ञ अर्थात एकाग्र चित्तवाला होता है।[13] आगे इसी विषय को और स्पष्ट करते हैं- 'जिस मनुष्य का मन दुःखों से उद्विग्न नहीं होता, सुखों की प्राप्ति की कोई लालसा नहीं रहती है, जो राग, भय और क्रोध से मुक्त हो जाता है, वह एकाग्र बुद्धि वाला व्यक्ति मुनि कहलाता है।[14] एकाग्र बुद्धि वाला व्यक्ति अपने आपको सांसारिक विषयों से हटा लेता है और अध्यात्मिक विषयों से अपने को जोड़ लेता है।

(8) आसन– चित्तवृत्तियों का निरोध कर ध्यान, उपासनादि करने के लिए स्थिर होना कठिन होता है। अतः ध्यान करने के लिए योगसाधक को किसी ऐसे आसन का भी अभ्यास करना चाहिए, जिसमें वह दीर्घकाल तक सुखपूर्वक बैठ सके। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आसन के विषय में लिखा है- 'जिसमें सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हों, उसको आसन कहते हैं अथवा जैसी रुचि हो वैसा आसन करें।[15] योगसूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि 'वह आसन स्थिरता तथा सुख देने वाला हो।[16] स्थिरता से अभिप्राय है– ध्यान के समय शरीर के किसी भी अंग के चंचल होते ही चित्त चंचल हो जायेगा। सुख का तात्पर्य है कि जिस आसन में साधक बैठा है, उसमें किसी प्रकार का कष्ट न हो। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं 'स्वच्छ स्थान पर अपना स्थिर आसन लगाकर, ऐसी जगह जो न अधिक ऊंची न अधिक नीची हो और आसन पर पहले कुशा फिर मृगछाला और उस पर वस्त्र बिछाकर ध्यान करें।[17] ऐसी स्थिति में मन को एकाग्र करके, चित्त तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को रोक कर, आसन पर बैठकर आत्मशुद्धि अर्थात अन्तःकरण या मन की शुद्धि के लिए ध्यान में लग जाए।[18] अपनी पीठ, सिर, गर्दन को सीधा अर्थात एक सीध में तथा अचल रखकर अर्थात बिना हिले-डुले, स्थिर होता हुआ, नासा के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर अन्य किसी दिशा में न देखते हुए ध्यान करें।[19]

(9) निर्भयता– एकाग्र मन होकर जब योगी आसन पर बैठता है तब वह निर्भय होकर बैठता है। उसे इस बात का डर नहीं रहता कि उसे विषय खीचेंगे।[20] जब तक मन स्थिर नहीं होता तब तक भय बना रहता है कि कहीं संसार के विषय उसे खींचकर मार्ग से भटका न दें।

(10) ब्रह्मचर्य– महर्षि व्यास ने योगसूत्र पर भाष्य लिखते हुए स्पष्ट कहा है–'उपस्थेन्द्रिय का संयम करना ब्रह्मचर्य है।[21] यद्यपि 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ 'वेद' भी है, परन्तु यहाँ सब गुणों का आश्रय होने से 'वीर्य' है। वीर्य इस शरीर का राजा है, अतः इसकी सुरक्षा करना बहुत आवश्यक है। ब्रह्मचर्य के सेवन से वीर्य अर्थात बल बढ़ता है- एक शरीर का, दूसरा बुद्धि का। उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है।[22] गीता के एक भाष्यकार सत्यव्रत सिद्धान्तकार लिखते हैं– 'जब योगी ब्रह्मचर्य का पालन करता है तब वह 'ब्रह्म' अर्थात् महानता में 'चर्य' अर्थात् विचरण करने लगता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है– महानता की तरफ चरण करना, गति करना। महानता की तरफ गति शरीर से, मन से, आत्मा से होती है। शरीर की महानता के लिए प्राचीन ऋषि-महर्षि यौन मनोवेगों पर नियंत्रण रखते थे। इससे उनका शरीर बलिष्ठ होता था। वे कहते थे– ब्रह्मचर्येण देवा मृत्युमुपाघ्नत। मन की महानता ब्रह्मचर्य का दूसरा रूप है। ब्रह्मचारी सब प्रकार की मानसिक क्षुद्रता का त्याग कर देता है– यही मानसिक ब्रह्मचर्य है। आत्मा की महानता का अर्थ है परमात्मा के गुणों को अपने अन्दर धारण करना। ध्यान-योगी में निर्भयता के बाद ब्रह्म की महानता आ जाती है।[23]

(11) भगवान में एकाग्रचित्त होना– भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं– 'जो प्रशान्त मन वाला है, भय से रहित, ब्रह्मचर्य के व्रत का पालनकर्ता, मन का संयम करके, मुझमें ही चित्त लगाकर मत्परायण होकर विचरण करने लगता है उसका चित्त भगवान में रमण करता है।'[24] आगे भी कहते हैं– 'जो साधक इस प्रकार सदा अपने को मेरे साथ जोड़ लेता है, जिसका मन उसके वश में रहता है, ऐसा योगी मुझमें अन्तर्निहित परम निर्वाण वाली शान्ति को प्राप्त होता है।[25] मन शून्य नहीं रह सकता है, या तो उसमें इन्द्रियों के विषय उभरते रहेंगे या उनका स्थान भगवान को दे देना होगा। जब मन में भगवान आ बसेंगे तब मन अपने आप एकाग्र हो जाएगा।

(12) संयमित जीवन– ध्यान-योग का उद्देश्य है-- कर्म की आसक्ति को छुड़ाना, जिससे कि हम कहने भर को निष्काम कर्म न करें, सही रूप में निष्काम कर्म कर सकें। इसका प्रथम साधन है– 'चित्त की एकाग्रता'। 'चित्त की एकाग्रता' का अर्थ है– इन्द्रियों को विषयों से जो रस मिलता है, उससे चित्त को हटाकर भगवान में लगा देना। इसी को गीता में 'युक्त' कहा है, 'युक्त' अर्थात भगवान से जोड़ा गया। जब मन भगवान के साथ एकाग्रता के कारण जुड़ जाता है तब विषयों का रस छूट जाता है, आसक्ति रहती ही नहीं। आसक्ति के त्याग का दूसरा साधन गीता में कहा है–'संयमित जीवन'। संयमित जीवन का अर्थ है– जीवन की सभी क्रियाओं को, नाप-तोलकर करना। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– हे अर्जुन! ध्यान-योग उसके लिए नहीं है जो बहुत खाता है, न उसके लिए ही है जो बिल्कुल नहीं खाता है। यह उसके लिए भी नहीं जो अत्यधिक सोता है, न उसके लिए ही है जो अधिक जागता है।[27] आगे कहते हैं, जिसका आहार-विहार नियमित हो, जिसकी चेष्टायें नियमित हों, जिसका सोना-जागना उचित मात्रा में हो, ऐसे व्यक्ति में योग इस प्रकार का अनुशासित जीवन भर देता है, जिससे उसके सभी दुःख दूर हो जाते हैं।[28] गीता के भाष्यकार सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार इसको और अधिक स्पष्टता के साथ लिखते हैं– 'आँख देखे परन्तु आँख विषयों में इतनी न डूब जाये कि दृश्य जगत में ही भटकती रहे, कान सुने परन्तु राग में और तान में इतना लीन न हो जाए कि हर समय तबला और मृदंग ही सूझे, जिह्वा चखे परन्तु चखने में ही व्याकुल न रहे। जब जीवन इस प्रकार नाप-तोलकर चलता है, तब वह अपने-आप अनासक्त हो जाता है, निष्काम हो जाता है।'[29]

(13) समदृष्टि (समभाव)– भगवद्गीता में 'समदृष्टि' पर विशेष बल दिया गया है। गीता के छठे अध्याय में 'समदृष्टि' को 'ध्यान-योग' का साधन कहा

है। 'सम-दृष्टि' होगी तो ध्यान होगा भगवान में 'ध्यान' होगा, तो अनासक्ति होगी। 'सम-दृष्टि' को स्पष्ट करते हुए गीता में कहा है– 'चाहे विद्या तथा विनय से युक्त पण्डित हो, चाहे गाय, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल हो, जो सबको समान भाव से देखता है, वह पण्डित है।'[30] इसी क्रम में आगे भी कहा है, 'जिनका मन साम्यावस्था में स्थित हो जाता है, वे यहीं इसी जन्म में संसार को जीत लेते हैं।'[31] भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– हे अर्जुन! सर्वत्र 'समभाव' से देखने वाला योगयुक्त व्यक्ति सब प्राणियों में अपने को और अपने में सब प्राणियों को देखता है। जो मुझे सब जगह देखता है और सब वस्तुओं को मुझ में देखता है वह मेरी दृष्टि से ओझल नहीं होता है और मैं उसकी दृष्टि से ओझल नहीं होता।[32] आगे भी कहा है– जो व्यक्ति सबको अपने समान देखता है, सुख-दुख दोनों में जो समान स्थिति में रहता है, यह समदृष्टि वाला परम योगी है।[33] गीता के दूसरे अध्याय में भगवान समभाव को बहुत ही स्पष्ट शब्दों में समझाते हैं– हे धनंजय! कर्मयोग में स्थित होकर, कर्म के फल की आसक्ति छोड़कर कर्म की सिद्धि या असिद्धि दोनों अवस्थाओं में समता की मनोवृत्ति को धारण करके कर्म कर। कर्म फल मिले या ना मिले दोनों अवस्थाओं में मन की सम अवस्था रहे– इसी को योग या ध्यान-योग कहते हैं।[34]

(14) अभ्यास, वैराग्य तथा श्रद्धा– ध्यान-योग के लिए चित्त की एकाग्रता, संयम तथा समत्व आवश्यक है, परन्तु इन सभी को किस प्रकार से जीवन में लाया जाए? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-'हे अर्जुन मन को नियंत्रित करना बड़ा दुष्कर कार्य है, किन्तु वह मन 'अभ्यास' तथा 'वैराग्य' के द्वारा वश में हो सकता है। इन अभ्यास और वैराग्य के अतिरिक्त एकाग्रता, संयम तथा समत्व प्राप्ति का तीसरा साधन है--'श्रद्धा'। इसीलिए गीता में कहा है– श्रद्धावांभजते यो माम्– जो श्रद्धा से मेरा भजन करता है वह मेरा प्रिय है। इन तीनों विषयों को थोड़ा विस्तार से समझते हैं।

(क) अभ्यास– हमारे कार्य दो प्रकार के होते हैं-सकारात्मक तथा नकारात्मक अथवा 'विध्वंसक' तथा 'विधायक'। खेत में से घास को उखाड़कर फेंकना 'विध्वंसक' कार्य है, घास के स्थान पर खेती करना विधायक कार्य है। चित्त में से विषय रूपी झाड़-झंखाड़ को हटा देना वैराग्य है, उसकी जगह भगवान का चिन्तन करना 'अभ्यास' है। महर्षि पतंजलि ने भी कहा है– 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः[36] अर्थात् अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त को वश में करना चाहिए। इनमें से अभ्यास क्या है? योगसूत्रकार लिखते हैं–'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास?[37] अर्थात् चित्त की सात्विक स्थिति में यत्न करते रहना अभ्यास है। यदि निरन्तर चित्त को एकाग्र करते रहने का यत्न किया जाएगा तो मन वश में आ जाएगा। कुमार्ग पर बार-बार जाने से उसका अभ्यास हो जाता है। यह कहना कि हम मन को नियंत्रित कर ही नहीं सकते, उचित नहीं है। गीता का मानना है कि यदि हम बार-बार अभ्यास करें तो मन नियंत्रित हो सकता है।

(ख) वैराग्य– गीता में 'विधायक' कार्य को अभ्यास कहा है और 'विध्वंसक' कार्य को 'वैराग्य' कहा है। वैराग्य से भी एकाग्रता, संयम तथा समत्व सिद्ध होता है। जैसे- मिष्टान्न की तरफ सभी का मन आकृष्ट होता है, परन्तु उस मिष्टान्न में विष मिला हुआ है, तब उससे तुरन्त वैराग्य उत्पन्न हो जाएगा। संसार के विषयों के प्रति सभी की लालसा बनी रहती है, परन्तु यह बोध जागृत हो जाए कि इन विषयों में उलझकर रोगों से घिर जाना है तब विषय से वैराग्य हो जाता है।

(ग) श्रद्धा– अभ्यास तथा वैराग्य के अतिरिक्त चित्त को एकाग्र करने का एक अन्य साधन भी है- 'श्रद्धा'। गीता में कहा है– 'जो श्रद्धावान लोग मेरे उपदेश का निरन्तर पालन करते हैं, वे कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।' आगे भी कहा है– जो श्रद्धा से मेरा भजन करता है, वह मेरे साथ जुड़ जाता है। श्रद्धा का सम्बन्ध हृदय से है। जो भगवान के प्रति अपने आपको हृदय से समर्पित कर देता है। उसका चित्त एकाग्र हो जाता है। वह संयमी हो जाता है, उसके लिए समत्व की भावना बुद्धि का नहीं, हृदय का भाव हो जाता है यही श्रद्धा है। श्रद्धा से ज्ञान प्राप्त हो जाता है और इससे सतत भगवान का चिन्तन रूपी ध्यान-योग प्राप्त हो जाता है।

सन्दर्भ

1. गीता 6.18-22। **2.** गीता 4.11। **3.** अनाश्रितः कर्मफलं कार्य कर्म करोति यः। गीता 6.1। **4.** यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते। गीता 6.4.11। **5.** उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। गीता 6.5। **6.** गीता 6.10। **7.** स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः। योगसूत्र 1.14। **8.** गीता 6/10। **9.** ए क ा क ी यतचित्तात्मा निराशीपररिपग्रहः।। गीता 6.10। **10.** सिद्धांतालंकार सत्यव्रत, गीताभाष्यम्, 6.17। **11.** विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। गीता 2.59। **12.** विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसा दोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येत यमाः। व्यासभाष्य, योगसूत्र 2.30। **13.** प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। गीता 2.55। **14.** दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। गीता 2.56। **15.** ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, उपासना विषय। **16.** स्थिरसुखमासनम्, योगसूत्र 2.46। **17.** गीता 6.11। **18.** तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचितेन्द्रिप्रक्रियः। उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये।। गीता 6.12। **19.** समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।। गीता 6.13। **20.** गीता 6.14। **21.** योगसूत्र, व्यासभाष्य, 2.30। **22.** ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः, योगसूत्र 2.38। **23.** सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, गीताभाष्य, 6.17। **24.** प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः। मनः संयम्य मच्चितं युक्त आसीत मत्परः।। गीता 6.14। **25.** युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः। शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।। गीता 6.15। **26.** गीता 6.18। **27.** नात्यश्नस्तु योगोस्ति न चैकान्तमनश्नताः। न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।। गीता 6.16। 28. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। 6.17। **29.** सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार गीताभाष्य, अध्याय 6 का उपसंहार। **30.** विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गति हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः।। गीता 6.18। **31.** इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थित मनः। गीता 6.19। 32. गीता 6.29-30। **33.** आत्मैष्यम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।। गीता 6.32। **34.** योगस्थः कुरू कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय। सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। गीता 2.48। **35.** अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। गीता 6.35। **36.** योगसूत्र 1.12। **37.** वही, 1.13। **38.** श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः। गीता. 3.31। **39.** श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः। गीता 6.47।

❑❑

—बी, 278, सुविधा अपार्टमेंट,
अशोक विहार, दिल्ली-110052
मो. 9212735938

उठो मेरे शेरो, इस भ्रम को मिटा दो
कि तुम निर्बल हो, तुम एक अमर आत्मा हो,
स्वच्छंद जीव हो, धन्य हो, सनातन हो, तुम तत्व नहीं हो,
न ही शरीर हो, तत्व तुम्हारा सेवक है,
तुम तत्व के सेवक नहीं हो।
शक्ति जीवन है तो निर्बलता मृत्यु है।
विस्तार जीवन है और संकुचन मृत्यु है।
- स्वामी विवेकानन्द

आधुनिक जीवन शैली और योग

कृष्णकुमार विश्वकर्मा

योग, चित्त, शरीर और प्रकृति के मध्य एकात्मभाव और समन्वय स्थापित करने का एक सशक्त माध्यम है। योग एक आध्यात्मिक विज्ञान के साथ-साथ एक आध्यात्मिक अनुशासन भी है जो भारत सहित वैश्विक स्तर पर अपने उत्कृष्ट मूल्यों तथा लोक कल्याण की भावना के लिए जाना जाता है। योग के इसी चरित्र को दृष्टिगत रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस 21 जून 2023 की थीम 'योग फार वसुधैव कुटुम्बकम' रखा गया। योग हमारे वैचारिकी तथा कार्य-प्रणाली के मध्य संन्तुलन एवं समन्वय स्थापित करने तथा स्वस्थ मन, मस्तिष्क और परिवेश के निर्माण के लिए समावेशी दृष्टिकोण रखता है। इतना ही नहीं योग शरीर व ऊर्जा को सुव्यवस्थित करने का साधन है। योग की अलग-अलग धाराएं हो सकती हैं परन्तु सभी का सम्मिलित लक्ष्य आत्म-संयम, आत्म-नियंत्रण, आरोग्यता, सकारात्मकता तथा स्वस्थ व समावेशी समाज का निर्माण है। जिससे भयमुक्त, आनन्दमय परिवेश व पारिस्थितिकी का निर्माण हो।

आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने जिन भौतिकतावादी मूल्यों को जन्म दिया है वे प्रकृति से द्वन्द्व पर आधारित हैं जो एक ऐसी कृत्रिम पारिस्थितिकी तथा कृत्रिम ताने-बाने से निर्मित है जो मानव की जीवन शैली को तीव्र गति से परिवर्तित कर रही है तथा कृत्रिमता की ओर अग्रसर कर रही है। आधुनिक जीवन शैली में व्यक्तिवादिता, जीवन में बढ़ती कृत्रिमता, स्वहित को प्राथमिकता तथा बढ़ते भौतिकतावादी मूल्यों ने मुनष्य को भौतिक रूप से सम्पन्न तो अवश्य बनाया है किन्तु प्रसन्नता, स्वास्थ और आनन्द की अनुभूति से वह वंचित होता जा रहा है। नकारात्मकता अवसाद तथा बढ़ती कुण्ठा ने मनुष्य की सृजनशील वैचारिकी, नैतिक मूल्यों, धैर्य तथा सहनशीलता को प्रभावित किया है। परिणामस्वरूप समाज में युवा असंतोष, हिंसक घटनाएं, अपराध, मानवीय मूल्यों का क्षरण, नैतिकता के स्तर में गिरावट, महिलाओं के प्रति बढ़ती हिंसक गतिविधियां, मानसिक व्याधियां जैसी समस्याओं में तीव्र वृद्धि हुई है। इन समस्याओं का स्थायी समाधान योग में अन्तर्निहित है। वैश्विक महामारी कोविड-19 ने योग की उपादेयता तथा मानव जाति के लिए इसके महत्व को रेखांकित किया है तथा मानव जीवन में इसकी अनिवार्यता को सिद्ध किया है।

योग मात्र एक आध्यात्मिक जीवन शैली ही नही बल्कि योग एक ऐसा साधन है जिससे व्यक्ति अपने जीवन को संयमित कर सकते हैं, अपनी कमजोरियों पर नियंत्रण पा सकते हैं तथा क्षीण हुई शक्तियों को पुनः प्राप्त कर पाते हैं। यह 'स्व' को पूर्णतः जानने की विधा, प्रक्रिया और साधन है। इस रूप में योग हमें भौतिक जगत से दूर करते हुए अपने विचारों की अर्न्तयात्रा द्वारा आत्म-साक्षात्कार व आत्म चिन्तन का मार्ग प्रशस्त करता है। एक जीवन पद्धति के रूप

में योग जीवन को इतना निय्रंत्रित, संयमित तथा सन्तुष्ट बना देता है जिससे कि हमारी, कार्य-क्षमता, निर्णय-क्षमता, सकारात्मकता, सृजनशीलता, धैर्य, आत्म-विश्वास, करुणा, समानुभूति, परोपकारिता, और अन्ततः प्रसन्नता व आनन्द में वृद्धि करता है।

इस शोध पत्र का उद्देश्य आधुनिक जीवन शैली को योग के माध्यम से कैसे नियमित संयमित और नियंत्रित किया जा सकता है, इसका अध्ययन करना है। इस शोध पत्र के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. क्या योग के माध्यम से आधुनिक जीवन शैली से उपजी समस्याओं का समाधान हो सकता है?

2. संभ्रांत वर्ग के साथ-साथ जन-सामान्य के जीवन में योग का क्या महत्व है? उनके लिए योग कैसे उपयोगी हो सकता है का अध्ययन।

3. शरीर को योग के माध्यम से कैसे स्वस्थ रखा जाए तथा योग के कुछ सामान्य स्टेप जो सभी के लिए उपयोगी हैं उनको बताना।

4. योग का अभ्यास कैसे किया जाय जिससे अधिकतम लाभ हो।

योग उत्कृष्ट प्राचीन भारतीय परम्परा और ज्ञान कौशल की अद्वितीय उपलब्धि है। आदि शिव को महायोगी कहा गया है। यद्यपि योग शब्द के सर्वप्रथम प्रमाण ऋग्वेद से प्राप्त होते हैं। उपनिषदों में विशेष रूप से 'कठोपनिषद' में योग के दर्शन होते है। भगवद्गीता का तो आधार ही योग और कर्म है। महर्षि पतंजलि ने 'योगसूत्र' की रचना कर योग के जनक के रूप में ख्याति प्राप्त की। यदि शाब्दिक रूप से देखा जाय तो 'योग' शब्द की व्युत्पत्ति 'संस्कृत' की 'युज' धातु से हुई है जिसका अर्थ है-जोड़ना, गठबंधन करना, बांधना, अपना ध्यान केन्द्रित करना, संयुक्त होना, युग्म बनाना। भगवद्गीता में योग के विषय में उल्लेख है कि 'समत्वं योग उच्चते', अर्थात मन के समत्व की स्थिति में पहुंचना ही योग है। पतंजलि ने 'योगसूत्र' में लिखा है कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' अर्थात मन की अस्थिरता को दूर करना योग है और इस रूप में योगसूत्र में योग को समग्र स्वास्थ्य प्रणाली कहा गया है।

महादेव देसाई गीता की भूमिका में कहते है– शरीर, मन, इच्छा, विचार की सभी शक्तियों का गठबन्धन ही योग की परिकल्पना है, इसका अर्थ है आत्मा का ठहराव, जिसके द्वारा हम जीवन के सभी पक्षों को एक जैसा देख पाते हैं। भारतीय संस्कृति व विचारधारा में पृथ्वी पर प्रत्येक व्यक्ति सर्वोच्च शक्ति अर्थात् ईश्वर द्वारा नियन्त्रित होते हैं तथा व्यक्ति या आत्मा उसका एक हिस्सा है। मोक्ष प्राप्त करने के लिए योग एक रास्ता है क्योंकि इसी तरीके से जीवात्मा का परमात्मा से मिलन हो सकता है।

कठोपनिषद् के अनुसार– 'जब इन्द्रियां शांत हो जायें, जब शरीर विश्राम में हो तथा बुद्धि स्थिर हो जाती है, ज्ञानी इस स्थिति को सर्वोच्च अवस्था कहते हैं। मन तथा इन्द्रियों को सुविधापूर्ण नियन्त्रण को योग कहते हैं, जो इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है वह सभी आकर्षणों से मुक्ति पा लेता है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को योग का अर्थ बताते हुए कहते हैं कि योग दुःख और सुख से परे की स्थिति है। जब मनुष्य का ईश्वर से एकाकार हो जाता है तब उसका मन, विवेक और अस्तित्व नियन्त्रण में आ जाता है तथा अशांत करने वाली इच्छाओं से जो स्वतन्त्र हो जाता है जो शरीर में इस तरह हैं जिन्हें एक योगी ही काबू में रख सकता है। सदैव वह शान्त रहता है। जहां हवा नहीं चलती वैसे ही एक योगी मन, बुद्धि और स्वंय पर नियंत्रण रखता है। अपने आत्मिक बल से योगी पूर्णता को प्राप्त करता है, अपनी बेचैनी को योग साधना से शान्त करता है तब उसे शाश्वत आनन्द की प्राप्ति होती है। जिसे इन्द्रियों द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि येग की वास्तविक सार्थकता यही है कि यह मानव जाति को दुखः और निराशा के भाव व बंधनों से मुक्त करता है।

योग के अंग– महर्षि पतंजलि का अष्टांग योग मानव जाति के मनोदैहिक स्वास्थ्य के लिए एक संजीवनी है। अष्टांग योग आधुनिक जीवन शैली से उत्पन्न तनाव, कुण्ठा, उत्तेजना की जगह एकाग्रता व याद्दाश्त के स्तर में सुधार करता है। प्रतिरक्षा प्रणाली में सुधार कर जीवन को आनन्दमय बनाने में सहायक है।

योग के अंग हैं– 1. यम (सामाजिक अनुशासन या सर्वभौमिक नैतिकता), 2. नियम (व्यक्तिगत अनुशासन/नैतिकता), 3. आसन (शारीरिक स्थिति (पोएस्चर), 4. प्राणायाम (स्वांस को रोकना तथा छोड़ना अर्थात श्वास पर नियंत्रण), 5. प्रत्याहार (इन्द्रियों पर अनुशासन), 6. धारण (एकाग्रता या चित्त की स्थिरता) 7. ध्यान (साधना), 8. समाधि (आत्म-अनुभूति)। योग के इन सभी अंगों का क्रमागत अनुसरण कर मानव आनन्द को प्राप्त कर स्वस्थ-सुखी हो सकता है।

योग के प्रकार– योग को जीवन शैली की संज्ञा इसलिए दी जाती है क्योंकि इसमें मनो-दैहिक स्वास्थ्य में सुधार से लेकर जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति तक के प्रावधान हैं। योग का प्रत्येक प्रकार मानव जाति के जीवन पथ को आलोकित करता है, आवश्यकता है आधुनिक डिजिटल होते जीवन में इसे स्थान देने की। योग के प्रकार हैं–1. कर्मयोग (कुशलता से कर्म करना अर्थात अपनी प्रस्थिति और भूमिका के अनुरूप कर्तव्यों का अनुपालन), 2. ज्ञानयोग (ज्ञान और विवेक का योग है अर्थात सत्य का ज्ञान), 3. हठयोग (शरीर व मन शुद्धि प्राप्त करने का हठ या आग्रह), 4. राजयोग (मन के जागरण तथा ज्ञान केन्द्रों को जानने का योग), 5. मन्त्रयोग (मंत्रजाप से क्षणकंपन का प्रयोग करते हुए मन को स्वतंत्र करने का योग), 6. लययोग (व्यक्तित्व को जानते हुए अपने में विलय करने का योग है। 7. भक्तियोग (भगवान की शरणागति का योग है।)

योगासनों द्वारा बीमारियों का उपचार : रूग्णता, अवसाद और तनाव आधुनिक प्रतिस्पर्धात्मक जीवन शैली के सह-उत्पादन (By Prodcut) बनते जा रहे हैं परन्तु योग जैसे सर्वांगीण स्वास्थ्य पद्धति से सम्पूर्ण शरीर को तनाव मुक्त करने तथा उसे विश्राम देने में सफलता मिलती है और एकाग्रता ध्यान, सहनशीलता, स्मरण शक्ति तथा आत्म नियंत्रण में वृद्धि होती है और मस्तिष्क शान्त होता है। नियमित योगाभ्यास से सम्पूर्ण शरीर में 'जीवन ऊर्जा' तथा रक्त परिसंचरण के स्तर में सुधार होता है तथा जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित होता है। रूग्णता या व्याधि के चार मुख्य कारण हैं– 1. भोजन (खान-पान) सम्बन्धी अस्वस्थकर आदतें। 2. शारीरिक श्रम और व्यायाम के प्रति अरु चि या व्यायाम के गलत तरीके। 3. आधुनिक जीवन शैली और अति प्रतिस्पर्धा के कारण उत्पन्न तनाव, कुण्ठा और नकारात्मकता। 4. अस्वस्थ दिनचर्या तथा आदतें।

निरन्तर योगाभ्यास से व्याधि के कारणों को नियंत्रित कर उसे धीरे-धीरे समाप्त किया जा सकता है। योग से शारीरिक व मानसिक व्याधियों के निदान में भी सहायता मिलती है, जिसे मात्र एलोपैथ का विषय माना जाता है जैसे श्वास रोग, उच्च रक्तचाप, मधुमेह, मानसिक विकार आदि। किस बिमारी में कौन सा योगाभ्यास तथा प्राणायाम लाभदायक सिद्ध हो सकता है उसे प्रस्तुत किया जा रहा है– 1. मधुमेह (सिद्धासन, शीर्षासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन, हलासन), 2. टी. बी. व दमा (सिद्धासन, शीर्षासन, सर्वांगासन, सुप्त वज्रासन, भुजंगासन), 3.पाचन तन्त्र में गड़बड़ी (सर्वांगासन, वज्रासन, पश्चिमोतानासन, बद्धपद्मासन), 4. पुरानी कब्ज (हलासन, मयूरासन, धनुरासन, मत्स्यासन) 5. पाइल्स (सिद्धासन, पश्चिमोतनासन, शीर्षासन, गोमुखासन, वद्यमुद्रा), 6. अतिसार (बड़ा पदमासन तथा कुक्कुटासन), 7. मोटापा (पश्चिमोतनासन, मयूरासन, सुप्तवज्रासन, धनुरासन), 8. उच्च रक्तचाप (वज्रासन, सिद्धासन, पद्मासन, मत्स्यासन, शवासन), 9. निम्न रक्तचाप (सर्वांगासन, हलासन, वज्रासन, पद्मासन, सिद्धासन, पश्चिमोतनासन), 10. गले में परेशानी (मत्स्यासन, सुप्तवज्रासन व सर्वांगासन), 11. सिर दर्द (पश्चिमोतानासन, हलासन, सर्वांगासन व शवासन), 12.हार्निया(मत्स्यासन, सर्वांगासन, सुप्तवज्रासन), 13. हृदय रोग (शवासन, बड़ा पद्मासन और सिंहासन), 14. माहवारी तकलीफ (धनुरासन, मत्स्यासन, सुप्तवज्रासन व पश्चिमोतनासन), 15. आंत की बीमारी (गर्भासन व सूर्य नमस्कार), 16. पुराना बुखार (गर्भासन, सिद्धासन, गोमुखासन, शवासन), 17. पैरालिसिस (पद्मामासन, सिद्धासन, गोमुखासन, बोरासन), 18 लेप्रोसी (कोढ़) (पद्मामासन, सिद्धासन, गोमुखासन, बोरासन)।

प्राणायाम एवं उपचार :– योग प्राचीन विज्ञान है जो प्राचीन भारतीय सभ्यता व संस्कृति की देन है।

स्वास्थ्य सेवाओं की बदलती आवश्यकताओं के अनुरूप बढ़ती चुनौतियों से निपटने के लिए योग और प्राणायाम की पद्धतियां आज समग्र विश्व में उपयोग में लायी जा रही हैं। मनोदैहिक रूग्णता के निदान में आसन, प्राणायाम तथा ध्यान रूपी त्रिरत्न का नियमित अभ्यास महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा हैं। गहरे सांस लेना, योग निद्रा और ध्यान का अभ्यास नकारात्मकता से बचाव करते हैं तथा शांति व आन्तरिक आनन्द का मार्ग प्रशस्त करते हैं। जिससे सकारात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न होता है। विभिन्न प्राणायाम और उनके लाभ– 1. भस्त्रिका प्राणायाम (प्राण एवं मन की स्थिरता), 2. कपाल भाति प्राणायाम (मस्तिष्क एवं सभी रोगों से मुक्ति, मन की स्थिरता, शांत, प्रसन्न, डिप्रेशन से छुटकारा), 3. वाह्य प्राणायाम (मन की चंचलता दूर होती है), 4. अनुलोम-विलोम प्राणायाम (सम्पूर्ण शरीर स्वास्थ्य), 5. नाड़ी शोधन प्राणायाम (सम्पूर्ण शरीर का स्वास्थ्य ठीक रहता है), 6. सूर्यभेदी प्राणायाम (मन की उतेजनाओं को शान्त करता है), 7. चन्द्रभेदी प्राणायाम (हृदय की गति एवं शरीर की कार्यशीलता बढ़ती है), 8.उज्जायी प्राणायाम (मानसिक तनाव एवं रक्तचाप तथा रक्तशोधन में सहायक), 9. शीतली प्राणायाम (उच्च रक्तचाप तथा रक्तशोधन में सहायक, 10. शीत्कारी प्राणायाम (निद्रा में कमी, शारीरिक शीतलता में वृद्धि, उच्च रक्तचाप में सहायक), 11. केवली प्राणायाम (एकाग्रता शीघ्र प्राप्त होती है)।

आसन और प्राणायाम की वर्तमान में प्रासंगिता

आसन और प्राणायाम मनोदैहिक स्वास्थ्य को संतुलित व स्वस्थ रखते हैं। इनके नियमित अभ्यास से एक तरफ जहां शरीर से विषाक्त पदार्थों को बाहर निकालने में सहायता मिलती है वहीं दूसरी तरफ शरीर में ऊर्जा का संचार होता है तथा नर्व सिस्टम ठीक रहता है। योग, आसन, ध्यान व प्राणायाम से उच्च रक्तचाप नियंत्रित होता है, पाचनतंत्र ठीक रहता है तथा मांसपेशियां सुदृढ़ होती हैं। हृदय की गति व श्वांस के स्तर सन्तुलित होते हैं। शरीर में आक्सीजन का परिसंचरण ठीक रहता है तथा कॉर्टिसोल कम बनते हैं, जिससे तनाव प्रबंधन में सहायता मिलती है तथा मूड ठीक रहता है, रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि होती है और अन्ततः सकारात्मक ऊर्जा के संचार के साथ शांति व आनन्द की प्राप्ति होती है जो मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। योग की प्रासंगिकता प्रधानमंत्री के 27 सितम्बर 2014 को संयुक्त राष्ट्र महासभा की 69वीं बैठक में दिये गये उनके भाषण से सिद्ध होती है उन्होंने कहा कि 'योग हमारी प्राचीन परम्परा का अमूल्य उपहार है। योग में शरीर एवं मस्तिष्क, विचार एवं कार्य एक हो जाते हैं। यह सर्वांगीण दृष्टिकोण है, जो हमारे स्वास्थ्य एवं हमारे सुख की दृष्टि से बहुत मूल्यवान हैं। योग व्यायाम मात्र नहीं है, यह आत्मा, विश्व एवं प्रकृति के साथ एकीकरण के भाव को प्राप्त करने का तरीका है।

योग में आसनों का भी महत्व है जो विभिन्न शारीरिक स्थितियों में किये जाते हैं, जैसे– 1. बैठकर किये जाने वाले आसन (पद्मासन, वज्रासन, सुखासन, वद्धपद्मासन, पश्चिमोतनासन, गोमुखासन इत्यादि), 2. खड़े होकर किये जाने वाले आसन (चक्रासन, गरूड़ासन, शीर्षासन इत्यादि), 3. पेट/पीठ के बल लेटकर किये जाने वाले आसन (मयूरासन, धर्नुरासन, सुप्तवज्रासन, मकरासन, मत्स्यासन, सर्वांगासन, हलासन, कर्णपीणासन, शवासन इत्यादि)।

योग इस लौकिक जीवन की मूल-भूत रचना को जानने (आत्म बोध) और इसे अपनी परम संभावना तक ले जाने का दर्शन और विज्ञान है। योग संबंधी कुछ सुझाव इस प्रकार है– 1.शरीर के बाह्य अंगों की सफाई के तो बहुत से साधन हैं परन्तु शरीर के आन्तरिक अंगों की शुद्धि के लिए योगाभ्यास एवं प्राणायाम नियमित रूप से करें। 2. किसी विशेष बीमारी की अवस्था में योगाचार्यों के परामर्श के अनुसार ही योगाभ्यास करें। 3. योगासनों के दौरान शीघ्रता करने से बचें तथा हठपूर्वक व जबरदस्ती यौगिक क्रियाएं न करे। शरीर की सहने की सीमा तक ही अभ्यास करें। 4. योगासन के लिए सुबह का समय व खाली पेट उत्कृष्ट माना गया है परन्तु अत्यन्त कम मात्रा में भोजन के 2 घंटे या उससे अधिक समय के उपरान्त योग किया जा सकता है। 5. योगाभ्यास के दौरान सकारात्मक विचार रखें। 6. नियमित योगाभ्यास बुढ़ापे की गति को शिथिल करता है जो संभवतः प्रत्येक मनुष्य की लालसा

होती है। 7. योगाभ्यास से बुजुर्गों के स्वास्थ में सुधार, उनकी स्मरण शक्ति, नींद व मूड की स्थिति में सुधार दृष्टिगत हुए हैं। 8. शारीरिक व मानसिक दोनों पक्षों से जुड़ी यौगिक क्रियाओं का अभ्यास आवश्यक है तथा इनमें निरन्तरता की आवश्यकता है। 9. योग के लिए किसी विशेष उम्र की सीमा निर्धारित नहीं है।

वर्तमान में भारत भारत की जनसंख्या का एक बड़ा भाग युवाओं का है जिनकी स्वस्थ जीवन शैली पर आत्म निर्भर भारत का भविष्य निर्भर करता है। तीव्र प्रतिस्पर्द्धा, भौतिकतावादी संस्कृति तथा मनोवैज्ञानिक दबाव ने युवाओं में तनाव, चिड़चिड़ापन, कुण्ठा व नकारात्मकता का बीजारोपण किया है जिन्हें योग, आसन, ध्यान व प्राणायाम को जीवन का अंग बनाकर नियमित योगाभ्यास से उन्मूलित किया जा सकता है। इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए सरकारी स्तर पर योग को बढ़ावा देने के लिए निरन्तर प्रयास किया जा रहा है, परन्तु आवश्यकता है योग और प्राणायाम को डिजिटल होती जन-सामान्य की दिनचर्या में पहुँच व पैठ बनाने की जिससे कि सम्पूर्ण विश्व में शांति, सद्भाव, एकीकरण व वसुधैव कुटुम्बकम् का मार्ग प्रशस्त हो तथा प्राचीन भारतीय योग परम्परा/ज्ञान सकल विश्व को अपने प्रकाश पुंज से आलोकित करता रहे।

❒❒

असिस्टेंट प्रोफेसर
रमाबाई राजकीय महिला स्नातकोत्तर
महाविद्यालय अकबरपुर,
अम्बेडकरनगर (उ.प्र.) 224122।
मो.-9451034019

अप्रतिम जननायक तिलक

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की दिशा को बदलने वाले श्री ***बालगंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई 1856*** *को महाराष्ट्र में हुआ। आप अद्भुत प्रतिभा के धनी, निडर एवं साहसिक प्रवृत्ति के थे। 1876 में बी.ए. तथा 1879 में एल.एल.बी. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात पुणे में शिक्षा के क्षेत्र में सक्रिय होकर क्रांतिकारी कार्य किये। 1885 में स्थापित कांग्रेस ब्रिटिश शासन से स्वतंत्रता की मांग याचक की तरह करती थी। बाल गंगाधर तिलक कांग्रेस से जुड़े तो उन्हें यह अच्छा नहीं लगा। उन्होंने अपने समाचार पत्र में स्पष्ट लिखा कि भारत में अंग्रेजी नौकरशाही से अनुनय-विनय करके हम कुछ नहीं पा सकते...। स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और इसे हम लेकर रहेंगे। अपने पत्रों 'केसरी' तथा 'मराठा' में ये जनमानस को उद्वेलित करने वाले सम्पादकीय लिखा करते थे। इससे तिलमिलाकर सरकार ने इन्हें डेढ़ वर्ष के कठोर कारावास का दंड दिया। 1897 में आप मुम्बई विधान परिषद के सदस्य चुने गये। महाराष्ट्र में गणेशोत्सव की परम्परा चलाई जो आज भी प्रचलित है। एक अंग्रेज अधिकारी की हत्या का झूंठा मुकदमा इनपर चलाया गया। 1908 में इनपर राजद्रोह का मुकदमा चलाकर जेल भेज दिया गया। 1914 में कालापानी से रिहा हुए। कारावास की अवधि में 'गीता रहस्य' नामक अद्भुत ग्रंथ की रचना की। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का व्यक्तित्व कृतित्व हमेशा राष्ट्र प्रेम का संदेश देता रहेगा।*

बौद्ध मत एवं शून्य विचार

डॉ. दीपक श्रीवास्तव

'शून्य' पर विचार किस प्रकार का विचार है? क्या 'शून्य' पर विचार संभव है? क्या विचार का विषय 'शून्य' हो सकता है? यह प्रश्न सीधा व सरल प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में है नहीं। जब भी हम विचार के विषय पर केन्द्रित होते हैं अर्थात किसी विषय पर विचार करते हैं तो हम विचार की इस क्रिया में प्रायः यह निश्चित रूप से जान रहे होते हैं कि वह कुछ है जो हमारे विचार का विषय है। यह विषय अस्पष्ट हो सकता है, किन्तु यह नहीं हो सकता कि विचार हो, किन्तु विचार का विषय हो ही नहीं।[1] विचार सदैव किसी विषय का विचार होता है। कहा जा सकता है कि विचार विषय-शून्य नहीं हो सकता। फिनॉमिनोलॉजिस्ट [2] चेतना को आवश्यक रूप से विषय की चेतना (विषयापेक्षी) मानते हैं। अतः कह सकते हैं कि 'शून्य' पर विचार, विचार के विषय की शून्यता नहीं है अपितु शून्य को विषय बनाकर विचार करना है। प्रश्न प्रकारान्तर से स्वयं को पुनः प्रस्तुत करता है– माना कि विचार विषय-शून्य नहीं होता किन्तु क्या वह, जो शून्य है, विचार का विषय हो सकता है?

चिन्तन परम्परा में विशेषकर भारतीय चिन्तन परम्परा में 'शून्य' विषय पर अत्यधिक सामग्री उपलब्ध होती है। अतः प्रारम्भिक तौर पर यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि शून्य को विचार का विषय बनाया जा सकता है। गणित के क्षेत्र में शून्य की अवधारणा भारतीय चिन्तन की ही देन है- ऐसा निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है। गणित स्वभावतः एक कल्पना (Assumption) है। गणित में शून्य की ही नहीं बल्कि असीम अथवा असंख्य की भी अवधारणा है। असीम अथवा असंख्य कल्पनीय सत्ताओं एवं गणनाओं से परे है। 'शून्य' क्या है? शून्य सत्ता के प्रारम्भ से पूर्व है। वह तब और वहाँ है जहाँ कुछ नहीं है। यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि जहाँ कुछ नहीं है वहाँ कुछ किस प्रकार हो सकता है? कहा जा सकता है कि 'शून्य' होने का नहीं, अपितु नहीं होने का विचार है। नहीं होने का विचार स्वतः स्फूर्त नहीं होता। हम विचार उस पर करते हैं जो होता है, जो नहीं होता है, वह प्रारम्भिक विचार का विषय नहीं हो सकता। 'नहीं होने' के विचार तक हम 'होने' के अथवा होने पर विचार के माध्यम से पहुँचते हैं। अतः हमारा विचार 'शून्य' से प्रारम्भ नहीं होता, 'शून्य' पर विचार अवश्य होता है किन्तु विचार 'शून्य' से प्रारम्भ नहीं होता। हम 'शून्य' (के प्रत्यय) तक विचार करते हुए पहुँचते हैं। यह हुई गणित की बात। शून्य की यह गणितीय अवधारणा प्राय स्पष्ट और निर्विरोध है। दार्शनिक चिन्तन की परम्परा में ऐसा भी प्रचुर रूप से मिलता है कि चिन्तक 'होने' पर विचार के माध्यम से 'न होने' के विचार तक पहुँचे हैं। इसके आगे ऐसा भी हुआ है कि न होने के विचार का भी अतिक्रमण करते हुए विचार के माध्यम से ही विचार-शून्यता (की अवस्था) में

प्रवेश हुआ है। यह स्थिति (यदि इसे स्थिति कहा जा सकता हो तो) विचार को नहीं बल्कि विचारातीतता की स्थिति है।

भारतीय चिन्तन परम्परा में शून्य की अवधारणा के प्रति बौद्ध दर्शन का अत्यधिक योगदान रहा है। बौद्ध मतानुयायी एवं दार्शनिक महात्मा बुद्ध के वचनों और उपदेशों की एक व्याख्या शून्यता के सिद्धान्त के रूप में करते हैं। शून्यता का सिद्धान्त दर्शन के क्षेत्र में एक प्रकार का तत्वमीमांसीय सिद्धान्त है। यद्यपि बुद्ध स्वयं किसी भी प्रकार की तत्वमीमांसा से बचने का उपदेश देते थे किन्तु उनके अनुयायी अनेक प्रकार के तत्वमीमांसीय सिद्धान्तों का निर्माण कर बैठे। इस शून्य विषयक चिन्तन की शृंखला में बौद्ध मत की महायान शाखा के माध्यमिकों का योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्वीकार किया जाता है। पहली अथवा दूसरी शताब्दी ईस्वी के बौद्ध विद्वान नागार्जुन के माध्यमिक शास्त्र को शून्यवाद का प्रथम व्यवस्थित निरूपण स्वीकार किया जाता है। शून्य अथवा शून्यवाद पर नागार्जुन का चिन्तन प्रथम व्यवस्थित चिन्तन अवश्य है किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि शून्यवाद का विचार नागार्जुन का मौलिक विचार नहीं है। शून्यवाद नागार्जुन से पूर्व अस्सी ई.पू. के अश्वघोष के विचारों में भी प्रतिबिम्बित होता है और यदि गहराई से विवेचन किया जाये तो स्वयं महात्मा बुद्ध के उपदेशों में ही शून्यवाद का बीज मिलता है। इस तथ्य से कोई भी माध्यमिकवादी न केवल असहमत नहीं होता बल्कि अपने विचार की पुष्टि के लिए बुद्ध के उपदेशों में शून्यवाद को आधारित करके गौरवान्वित होता है।

महात्मा बुद्ध का काल छठी शताब्दी ई.पू. स्वीकार किया जाता है और तब से लेकर 10वीं-12वीं शताब्दी ईस्वी तक बौद्ध मत, विचारधारा एवं चिन्तन का वर्चस्व भारत भूमि पर सर्वाधिक रहा। किन्तु बुद्ध पश्चात के कुछ ही वर्षों में बुद्धानुयायी अनेक मतों में विभक्त हो गये। प्रत्येक ने अपने दृष्टिकोण से बुद्ध-वचनों की व्याख्या की और आज निश्चित रूप से यह कह पाना कि महात्मा बुद्ध का वास्तविक उपदेश कितना है तथा इसमें व्याख्याकारों एवं परवर्ती दार्शनिकों ने क्या व्याख्या जोड़ दी है, लगभग असम्भव लगता है। इस कठिनाई के बावजूद बुद्ध के जिन उपदेशों को लेकर दार्शनिकों और इतिहासकारों में मतभेद नहीं है वह हैं चार आर्य सत्य तथा इनमें से दूसरे व तीसरे आर्य सत्य में समाहित प्रतीत्यसमुत्पाद[3] का सिद्धान्त। प्रतीत्यसमुत्पाद के विषय में बुद्ध स्वयं स्पष्ट कहते हैं कि यह सिद्धान्त दो अतियों के मध्य का सिद्धान्त है। एक ओर तो यह शाश्वतवाद को, तो दूसरी ओर उच्छेदवाद[4] को पूर्णतः अस्वीकार करता है। दो अतियों से बचने वाले तथा मध्यम मार्ग अपनाने वाले इस सिद्धान्त को बौद्ध साहित्य में 'मध्यमा प्रतिपाद' के नाम से वर्णित किया गया है।

बुद्ध के उपदेशों के वास्तविक अर्थ को लेकर बौद्ध मतानुयायी कालान्तर में दो प्रमुख सम्प्रदायों में विभक्त हो गये। बुद्ध वचन 'आत्मदीपो भवः' से प्रेरणा लेकर व्यक्तिगत प्रयासों से स्वयं के ही मोक्ष में विश्वास करने वाले बौद्ध मतावलम्बी, महायानवादियों द्वारा हीनयानवादी ठहराये गये। हीनयानवादियों की आस्था 'अर्हतत्व' में है जिसमें कि निर्वाण[5] प्राप्ति पर समस्त दुःख से मुक्ति हो जाती है। इसके विपरीत महायानवादी 'बोधिसत्व' के आदर्श में विश्वास करते हैं जो स्वयं प्रज्ञावान होकर भी करुणावश अन्यों के दुःख निवारण के लिए पुनः कष्ट सहता है। महायानवादी, हीनयानवादियों की निर्वाण की अवधारणा को स्वार्थपरक तथा नकारात्मक मानते हैं तथा स्वयं बुद्ध के इस वचन– 'कलिकलुषकृतानी यानि लोके मयी तानि पतन्तुविमुच्यताम हि लोकः' से प्रेरणा लेते हैं। इन दोनों ही सम्प्रदायों द्वारा अपनायी गई मोक्ष (निर्वाण) की व्याख्या तथा स्वरूप का सीधा सम्बन्ध उनकी शून्य संबंधी अवधारणा से है। निर्वाण का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न का दोनों ही सम्प्रदायों द्वारा दिया गया उत्तर उनके शून्य के तत्वमीमांसीय स्वरूप की ओर इंगित करता है तथा बौद्ध शून्य विषयक अवधारणा को समझने में हमारी तार्किक सहायता करता है।

हीनयान बौद्ध मत की सर्वाधिक प्राचीन शाखा स्थविरवाद (पालि-थेरावाद अर्थात वरिष्ठों का मत) के नाम से जानी जाती है। यह मत पूर्णरूपेण पालि ग्रन्थों पर ही आधारित है तथा इस मत का संस्कृत में निरूपण 'सर्वास्तिवाद' के नाम से विख्यात है। सर्वास्तिवादी

मत में सभी भौतिक एवं मानसिक द्रव्यों की सत्ता को स्वीकार किया गया है। सर्वास्तिवाद मत की दो प्रमुख प्रशाखाएँ हैं– वैभाषिक और सौत्रान्तिक। हीनयान सम्प्रदाय का यह बौद्ध मत प्रतीत्यसमुत्पादवाद के आधार पर यह मानता है कि यदि वस्तुएं अपने कारणों पर निर्भर करती हैं तो वे स्थाई तथा निरपेक्ष नहीं हो सकतीं, वह केवल सापेक्ष ही हो सकती हैं। यदि नित्य परिवर्तन सत्य है तो तार्किक रूप से वस्तु का अस्तित्व एक क्षण से अधिक के लिए नहीं हो सकता। नित्य परिवर्तन का अर्थ ही प्रतिक्षण परिवर्तन है। कोई भी वस्तु आने वाले क्षण में वर्तमान क्षण के रूप को कायम नहीं रख सकती। रूप परिवर्तन सत्ता परिवर्तन है। अतः सत्ता क्षणिक है। इस प्रकार इस सम्प्रदाय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त 'क्षणभंगवाद' है। मानसिक व भौतिक दोनों ही प्रकार की क्षणिक सत्ता विषयक यह सिद्धान्त प्रायः 'सन्तानवाद' के नाम से भी जाना जाता है। यही सिद्धान्त एक अन्य रूप में 'संघातवाद' के नाम से भी जाना जाता है जिसका अभिप्राय है कि तथाकथित 'आत्मा' नित्य परिवर्तनशील पंचस्कंधों को दिया गया एक नाम (और केवल एक नाम मात्र) है। 'आत्मा' नित्य नये किन्तु वेग से निरन्तर आते हुए विचार से अधिक एवं अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार तथाकथित जड़ द्रव्य भी नित्य परिवर्तनशील अणुओं का संघात मात्र है। वास्तव में न तो कोई स्थाई जड़ द्रव्य है और न ही कोई स्थाई आत्म द्रव्य। इस प्रकार यह सम्प्रदाय नैरात्म्यवाद में विश्वास करता है।[6] जीवात्मा का एक जीवन इस प्रकार से एक क्षणमात्र का ही है। विचार का एक क्षण एक जीवन है, विचार का अन्य क्षण एक अन्य जीवन। दोनों के मध्य व आधार में स्थाई (आत्मा) जैसी कोई वस्तु नहीं है। जैसे ही विचार का निरास होता है जीवन का भी निरास हो जाता है।[7]

निर्वाण (स्वरूप) विषयक हीनयान दृष्टि यह है कि 'अर्हत' वह है जिसे निब्बान (बुझ जाना) की प्राप्ति हुई है। वह जिसने स्वयं की सत्ता को बुझा दिया है तथा अब (उसकी) सत्ता किसी भी रूप में शेष नहीं है। यह प्राप्ति अथवा परिणाम समस्त इच्छाओं तथा वासनाओं के आत्यान्तिक शमन के कारण उत्पन्न है। इस प्रकार निब्बान का संबंध तृतीय आर्य सत्य– 'दुःख निरोध' से है। इस निब्बान की (स्थिति की) व्याख्या प्रायः दीए के बुझ जाने से की जाती है। कहा गया है, 'निब्बन्ति धीरा यथायम पदीपो'[8] जिस प्रकार बुझा हुआ दीप न यहाँ जाता है न वहाँ, न पृथ्वी पर रहता है न आकाश में, न इस ओर न उस ओर, वह तेल के चुक जाने पर केवल बुझ जाता है, ठीक उसी प्रकार निर्वाण इच्छाओं एवं वासनाओं के पूर्णतः चुक जाने पर कुछ शेष न रह जाने की स्थिति है।[9]

मिलिन्दपन्हों पालि साहित्य का एक अति महत्वपूर्ण सम्वाद है जिसमें राजा मिलिन्द (मीनेण्डर) बौद्ध विद्वान नागसेन से आत्मा के अस्तित्व एवं स्वरूप के विषय में प्रश्न करता है तथा नागसेन आत्मा (स्थाई) के कुछ भी न होने के कारण, एक उदाहरण के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से (Indirectly) यह समझाने का प्रयास करता है कि ऐसा वास्तव में कुछ है नहीं जिसे कि आत्मा समझा जाता है। आत्मा के स्वरूप सम्बन्धी मिलिन्द के प्रश्न के प्रत्युत्तर में नागसेन प्रतिप्रश्न करता है कि मिलिन्द जिस रथ पर सवार होकर आया है, वह क्या है? क्या वह रथ के विभिन्न भाग यथा ढांचा, जुआ, आधार, खम्ब, इत्यादि रथ है? मिलिन्द का उत्तर 'न' है। नागसेन पुनः प्रश्न पूछता है कि क्या इन सभी घटकों की अव्यवस्थित समग्रता रथ है? मिलिन्द का उत्तर अब भी 'न' है। नागसेन पुनः पूछता है– क्या रथ इन घटकों के अतिरिक्त कुछ है? मिलिन्द का उत्तर अब भी 'न' है। इस उदाहरण से नागसेन स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि जिस प्रकार 'रथ' उसके घटकों की व्यवस्था का केवल नाम है, उसी प्रकार 'आत्मा' पंच स्कन्धों के लिए प्रयुक्त एक सामान्यतः सुविधापूर्ण नाम अथवा सम्बोधन मात्र है, स्थाई आत्मा जैसी किसी विशिष्ट सत्ता का अस्तित्व नहीं है।[10]

महायानवादी, हीनयान मत की इस प्रकार की नैरात्म्यवादी अवधारणा को स्वीकार नहीं करते। महायान मतानुसार मोक्ष अथवा निर्वाण का हीनयान निरूपण नकारात्मक है जबकि वास्तव में निर्वाण नकारात्मक अथवा असत्तात्मक (अन्ततोगत्वा कुछ नहीं रह जाना)

न होकर एक धनात्मक आनंद की अवस्था है। महायानवादियों की यह भी मान्यता है कि हीनयानवाद सामान्य (कम बुद्धिशील अथवा अज्ञानी) शिष्यों की आवश्यकताओं के अनुरूप महात्मा बुद्ध के उपदेशों में किया गया समायोजन है,[11] अथवा हीनयानवादियों का दर्शन बुद्ध उपदेशों तथा उनके निहितार्थों को ठीक प्रकार से न समझ पाने के कारण विकसित हुआ है। इसका सीधा अर्थ यह भी है कि महायानवादी स्वयं को हीनयानवादियों की अपेक्षा अधिक संगत एवं बुद्ध के वचनों के वास्तविक अर्थ एवं मर्म को समझने वाले मानते हैं तथा हीनयानवाद के आलोचक हैं। परम्परा में यह स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर भी होता है कि महायान के विकास का मुख्य कारण हीनयानवाद के सिद्धान्तों से असहमति है।

यहाँ विशेषकर आत्मा निर्वाण तथा शून्य के स्वरूप के विषय में यह प्रश्न अति प्रासांगिक हो जाता है कि क्या वास्तव में हीनयानवाद में वे दोष व्याप्त हैं, जिनके कारण महायानवादी हीनयानवाद के आलोचक हैं? क्या वास्तव में यह माना जा सकता है कि हीनयान सम्प्रदाय बुद्ध के उपदेशों की अधूरी समझ पर आधारित है तथा महायानवाद का बुद्ध के उपदेशों का विश्लेषण पूर्णतः तार्किक एवं सुसंगत ही है? या फिर यह भी संभव है कि वास्तव में जो आक्षेप महायानवादियों ने हीनयान सम्प्रदाय पर लगाये हैं ये वास्तव में अनुचित हों तथा महायानवादी स्वयं ही बुद्ध उपदेशों की भ्रामक समझ और व्याख्या से ग्रसित हों?

बौद्ध दर्शन का प्रारम्भिक काल तत्वमीमांसा विरोधी काल रहा है। चिंतन का केन्द्र बिन्दु मानव जीवन में दुःख तथा दुःख से निवृत्ति था। प्रतीत्यसमुत्पादवाद को, दुःख के कारणों को समझकर दुःख के निराकरण के सिद्धान्त के रूप में ही समझा जाता था। यथा सम्पूर्ण चिंतन-शील, प्रज्ञा, समाधि तथा नैरात्म पर ही केन्द्रित था। लगभग 200 ई.पू. महायान ग्रन्थों के अविर्भाव के साथ ही धम्मों की निस्सारता तथा शून्यता पर बल दिया जाने लगा। 'अश्वघोष द्वारा उपदिष्ट 'तथता' सिद्धान्त इन दो स्थितियों के बीच झूलता प्रतीत होता है कि एक और समस्त धम्मों की निस्सारता का सिद्धान्त, दूसरी और यह ब्राह्मणवादी विचार कि इन निस्सार धम्मों के आधार रूप में कहीं कुछ और भी है। इसे ही वह 'तथता' का नाम देता है, पर यह स्पष्ट रूप से नहीं कह पाता कि कोई स्थाई सत्ता कहीं विद्यमान रह सकती है या नहीं।[12] महान पाश्चात्य विचारक इमैनुअल काण्ट ने स्पष्ट रूप से जगत को प्रपंच कहकर तथा प्रपंचों के परे निश्चित रूप से विद्यमान किन्तु अज्ञेय 'नूमीना' की सत्ता को स्वीकार करके एक स्पष्ट दार्शनिक स्थिति प्रस्तुत की है, किन्तु सम्पूर्ण शून्यवादी (महायान बौद्ध) परम्परा जिसे नागार्जुन, आर्यदेव, कुमारजीव तथा चन्द्रकीर्ति आदि ने अभिहित तथा पल्लवित किया है, प्रायः इस नूमीना के संदर्भ में अस्पष्ट प्रतीत होती है। अर्थात जो समस्या 80 ई.पू. के अश्वघोष के सिद्धान्त में दृष्टिगत होती है वही रूप बदल-बदल कर सम्पूर्ण (महायान) शून्यवादी परम्परा पर व्याप्त है। इन सभी विद्वानों द्वारा बुद्ध वचनों की गई एक व्याख्या दूसरी व्याख्या के विरोध में अड़ी प्रतीत होती है तथा हम स्पष्ट रूप से यह नहीं जान पाते कि अन्ततोगत्वा यह परम्परा किसी स्थाई सत्ता की स्थापना करती है अथवा नकार? ऐसी स्थिति में यह अति महत्त्वपूर्ण विवेच्य विषय हो जाता है यदि सत्ता है तो उसका स्वरूप कैसा है? या फिर स्थिति काण्ट के दर्शन के समान है कि सत्ता तो है किन्तु उसका स्वरूप अज्ञेय एवं अविश्लेष्य है? या फिर कोई अन्तिम सत्ता है ही नहीं जिसके की स्वरूप का प्रश्न उठाया जा सके?

नागार्जुन का शून्य विषयक मत उसके सत् के आलोचनात्मक विश्लेषण से उपदिष्ट है। 'अपर प्रत्ययम शान्तम प्रपंचैरप्रपंचितम निर्विकल्पम अनानार्थमं एतत तत्वस्य लक्षणम'[13] इस प्रकार नागार्जुन के मतानुसार सत्ता की परिभाषा हुई– वह जो केवल साक्षातानुभूति का विषय है, वह जो शांत एवं आनंदमय है, जहाँ समस्त नानात्व का अवसान हो जाता है, वह जहाँ बुद्धि की समस्त मांग संतुष्ट हो जाती है तथा वह जो द्वैत-रहित निरपेक्ष है। अपने शास्त्र की प्रारम्भिक कारिकाओं में ही नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद का तात्पर्य 'अष्ट नकार' के माध्यम से शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद के मध्य की स्थिति बताते हुए तथा बुद्ध को प्रतीत्यसमुत्पादवाद के

दुर्लभ एवं विशेष सिद्धान्त का प्रदाता बताते हुए कहता है– 'अनिरोधम अनुत्पादम, अनुच्छेदम, अशाश्वतम, अनेकार्थम, अनानार्थम, अनागमम, अर्निगमम यः प्रतीत्यसमुत्पादम प्रपंचोपशमम शिवं देश्यामास समबुद्धस तम वन्दे वदताम वरम्।'[14] नागार्जुन बुद्धोपदेश की व्याख्या करते हुए कहता है कि वास्तव में सत्य के दो स्तर अथवा पक्ष हैं– व्यवहार तथा परमार्थ, इन दो दृष्टिकोणों को भली प्रकार न समझने वाला अर्थात इनमें भेद न कर सकने वाला बुद्ध की शिक्षा का ग्राहक नहीं हो सकता। संवृत्ति (व्यवहार) सत्य स्थाई नहीं है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसका बाध भी नहीं हो सकता। व्यवहार को सत्य मानना बुद्धि की मजबूरी है क्योंकि व्यवहार को व्यावहारिक दृष्टि से कभी भी असत्य नहीं ठहराया जा सकता। शुद्ध निषेध असम्भव है। अवस्था, निषेध की आवश्यक पूर्व मान्यता है।[15]

शून्यता के विषय में भी नागार्जुन की व्याख्या है कि शून्य के दो पक्ष हैं। प्रपंच जगत में इसका अर्थ स्वभाव शून्यता अथवा निःस्वभावता है। इससे अभिप्राय है कि गोचर वस्तुएं वास्तव में धर्म अथवा सार शून्य हैं। वस्तुएं हैं ही नहीं, वे केवल प्रतीत होती हैं, वे वास्तविक धर्म नहीं है। जगत निःस्वभाव है, प्रतीत्यसमुत्पन्न है, सापेक्षता है, असत् है। यह प्रपंच जगत अज्ञान से उत्पन्न है। जब तक अज्ञान का नाश नहीं होगा यह भव चक्र अथवा धम्म चक्र घूमता रहेगा। जन्म मृत्यु तथा पुर्नजन्म का चक्र चलता रहेगा। अज्ञान का नाश केवल ज्ञान से ही हो सकता है। वास्तविक ज्ञान सत्ता का ज्ञान है। सत्ता वास्तविक रूप से न तो शून्य है और न ही अशून्य, न ही दोनों और न ही दोनों का अभाव। सत्ता को शून्य केवल व्यवहार दृष्टि से ही कहा जाता है। किन्तु व्यवहार अथवा सापेक्षता अन्तिम सत् नहीं है। सापेक्षता स्वयं सापेक्ष है। सापेक्षता निरपेक्षविहीन होने पर अर्थ खो देती है। इस सापेक्षता का आधार निरपेक्ष सत् है जो कि बुद्धि की उपरोक्त चार कोटियों की पकड़ से परे है।

नागार्जुन के उपरोक्त मत से भली प्रकार प्रतीत होता है कि ऐसी किसी सत्ता में माध्यमिकों का विश्वास है जो कि बुद्धि की कोटियों के दायरे के बाहर भले ही हो किन्तु है अवश्य। इसे कहीं निरपेक्ष, कहीं आनंद तो कहीं सहज अनुभव इत्यादि नामों से माध्यमिकवादी वर्णित करते हैं। महायानवाद की ऐसी व्याख्या काण्ट के इस मत के निकट प्रतीत होती है कि नूमीना को जाना नहीं जा सकता, बुद्धि सत् के स्वरूप को नहीं जान सकती, रेशनल मैटाफिजिक्स इज इम्पॉसिबल। किन्तु इन सब उपायों से परे कोई पारमार्थिक सत्ता है अवश्य।

बात यहीं समाप्त नहीं होती। नागार्जुन का यह भी अभिमत है कि सत्ता नकार तथा अनकार से परे है। हम किसी (सत्ता) का भी नकार नहीं करते।[16] ऐसा कुछ (सत्) है ही नहीं जिसे नकारा जा सके। हम स्वीकार एवं नकार के परे की बात करते हैं। परमार्थ की दृष्टि से हमारा कोई मत अथवा सिद्धान्त नहीं है। निषेध अथवा नकार स्वीकारोक्ति का होता है, स्वीकार का खण्डन होता है किन्तु जब हमारी दृष्टि में कुछ स्वीकारात्मक है ही नहीं तो नकार किसका।[17] परमार्थ दृष्टि से बुद्ध ने किसी को भी, कहीं भी, कोई भी सिद्धान्त नहीं दिया।[18]

आर्यदेव का मत है कि जगत स्वप्न, भ्रम, प्रतिध्वनि, मरीचिका, इत्यादि के समान है।[19] हमारा नैरात्म द्वैत रहित आनंद की स्थिति है और यह स्थिति केवल बुद्धों को ही प्राप्य है।[20] इस वर्णनातीतता का उपदेश केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही हो सकता है, जब बात विचार एवं भाषा में की जाये। वस्तुतः वर्णनातीत विचार और भाषा से परे है।[21] इसी प्रकार चन्द्रकीर्ति का भी मत है कि हमारे लिए तर्क की वैधता केवल व्यावहारिक है जिसका उपयोग हम विरोधी मतों के खण्डन के लिए करते हैं। हमारी अपनी कोई स्थिति अथवा मत नहीं है जिसकी हम स्थापना करना चाहें। हम केवल नकारात्मक रूप से यह सिद्ध करते हैं कि प्रत्येक तर्क अथवा प्रमाण असत् है, क्योंकि वह व्यदतोव्याघाती है।[22]

सत्ता, विचार, एवं विचार के विषय की दृष्टि से अब शून्य के प्रश्न में एक नया आयाम जुड़ जाता है। महायानवादियों के (व्यावहारिक) तर्कों से यह ज्ञात होता है कि वे परमार्थ को अस्तित्व तथा अनस्तित्व की कोटियों से बाहर रखते हैं। वह यह मानते हैं कि सत्ता

वर्णनातीत है तथा विचारातीत भी। इस प्रकार वे वर्णन शून्यता तथा विचार शून्यता (ज्ञान मीमांसीय शून्यता) को प्राप्त होते हैं। किन्तु मूल प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस प्रकार की वर्णनशून्यता अथवा विचारशून्यता के 'मूल में' क्या कुछ ऐसा भी है जो कि वर्णन शून्य एवं विचार शून्य है अर्थात महायान विहित शून्यता का मूलाधार क्या है? यदि इस बात पर बल दिया जाये कि निर्वाण, निरपेक्षता, आनंद तथा आध्यात्मिक अनुभूति है तो यह वर्णनातीतता एवं विचारातीतता एक (ज्ञान मीमांसीय) प्रकार की होगी। किन्तु यदि शून्यवादियों के अधिक तर्क सम्मत इन प्रतिपादों पर दृष्टि केन्द्रित की जाये कि निर्वाण समस्त घटनाओं के सार का अभाव है, वह किसी वस्तु की समाप्ति (जो इनके मतानुसार कभी थी ही नहीं- जैसे रज्जु में सर्प) या निरोध के रूप में नहीं है तथा किसी वस्तु की उत्पत्ति के रूप में भी स्वीकार नहीं किया जा सकता– अनिरुद्धम अनुत्पन्न है अर्थात निर्वाण कोई वस्तु सत्ता अथवा कोई भाव नहीं है, तो इस स्थिति में यह शून्यता एक अन्य (तत्वमीमांसीय) प्रकार की शून्यता होगी।

अनुभूति की बात किसी भी दृष्टि से महायानवाद के साथ सुसंगत नहीं है। जब अनुभवकर्ता ही नहीं है तो अनुभव भी नहीं हो सकता। विचारातीतता का अनुभवातीतता से तादात्म्य है, यह दोनों वस्तुतः एक ही हैं। अनुभवातीतता में अनुभव कैसा? अवर्णनीय निरपेक्ष सत् अथवा परमार्थ में विश्वास का जब एकमात्र आधार सापेक्षता है तो यह निरपेक्षता भी सुसंगत नहीं है। सापेक्ष (वस्तु जगत, प्रतीत्यसमुत्पाद) के विषय में एक ओर यह मत रखना कि यह अंततोगत्वा सत् नहीं है अर्थात जो सापेक्षतया दृष्टिगत हो रहा है वह वास्तव में है ही नहीं और दूसरी ओर जो है ही नहीं उसपर निरपेक्ष को आधारित अथवा अवलम्बित करना तर्कतः निरपेक्ष को निराधार करना अथवा असम्भव करना है। निरपेक्ष समस्त का आधार होता है। दार्शनिक दृष्टि से वह किसी पर आधारित नहीं होता किन्तु यह स्थिति बौद्धों (महायानवादियों) को मान्य नहीं है। जो कुछ है वह अज्ञान जन्य है और जब अज्ञान नहीं रहेगा तो कुछ भी शेष नहीं रहेगा- न व्यावहारिक और न ही पारमार्थिक- ऐसा भी बौद्ध स्वीकार करते हैं। इस प्रकार इनके अभिमत का निरपेक्ष असम्भव है। केवल व्यवहार से परमार्थ को निगमित करने में मूल समस्या यह है कि व्यवहार के न रहने पर (जो वास्तव में माध्यमिकों के अनुसार रहता नहीं, कभी था ही नहीं) परमार्थ भी नहीं रहता। व्यहार और परमार्थ दोनों के ही शून्य होने अथवा रह जाने का यह तार्किक निगमन महायानवादियों की परमार्थ विषयक पूर्वोक्त स्थापना का प्रतिकार है।

यह भी माना गया है कि निर्वाण अभाव भी नहीं है। इसका कारण बतलाया गया है कि अभाव, भाव का होता है किन्तु जब भाव है नहीं और था नहीं तो अभाव भी नहीं हो सकता। प्रश्न उठता है कि निर्वाण क्या है? उत्तर यही हो सकता है कि यह कुछ नहीं है। कुछ नहीं होने, कुछ शेष नहीं रह जाने की स्थिति ही निर्वाण है। कुछ शेष नहीं रह जाने को ही तो हीनयानवादी निर्वाण कहते हैं। स्वयं हीनयान मत को स्वीकार करते हुए महायानवादी, हीनयानवाद की आलोचना कैसे कर सकते हैं? अतः महायान द्वारा की गई हीनयान मत की आलोचना उचित प्रतीत नहीं होती।

बौद्ध साहित्य में छः पारमिताओं (पूर्णताओं) का उल्लेख है जिनमें से प्रज्ञा पारमिता को सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञा पारमिता तथा सद्धर्म पुण्डरीक नामक सूत्र अथवा ग्रन्थों के विषय में मान्यता है कि ये ऐसे संस्कृत विद्वानों की रचना हैं जो थेरवाद शाखा से अलग हो गये थे। इनका उल्लेख हमें नागार्जुन की माध्यमिक कारिका पर चन्द्रकीर्ति की टीका में मिलता है। अतः यह भली प्रकार से अनुमेय है कि इन ग्रन्थों का रुझान मूलतः महायानवादी है।

सद्धर्म पुण्डरीक में परमार्थ का विवरण मिलता है कि यह बुद्धि की कोटियों से परे शांत एवं शुद्ध बुद्ध ज्ञान है। यह सर्वश्रेष्ठ एवं अन्तिम ज्ञान है जिसे उत्तम अग्रबोधि कहा जाता है, और जिससे हमें बुद्धत्व प्राप्त होता है। इसी प्रकार का विवरण हमें अष्टसाहस्त्रिका में भी मिलता है। इस प्रकार की व्याख्या से यह प्रतीत होता है कि परमार्थ ज्ञान की स्थिति है। अज्ञान का नाश हो जाने पर केवल ज्ञान शेष रह जाता है। और

क्योंकि ज्ञान भावात्मक अथवा बुद्धि की कोटियों से परे होने के कारण भाव-अभाव के भेद से परे होता है अतः परमार्थ एवं निर्वाण भी भावात्मक अथवा भाव-अभाव से परे होना चाहिए। किन्तु हमारा यह भ्रम भी तब दूर हो जाता है जब अष्टसाहस्रिका में ही हमें यह वर्णन भी मिलता है कि सभी प्रपंच सत्ताएं शून्य हैं, पंच स्कन्ध भ्रम है? ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसका कि निर्वाण हो सकता है, ऐसा कोई शास्त्र नहीं है जिसके द्वारा निर्वाण हो सकता है, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो कि बन्धन में पड़ सकता है, ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिससे उसका बन्धन हो सकता है, वस्तुओं की वस्तुता भ्रम है। किसी का भी उत्पाद नहीं है। कोई व्यक्ति नहीं है, कोई तत्व नहीं है, कोई धर्म नहीं है। महायान व्यदतोव्याघात है। निर्वाण भ्रम है। यदि कुछ निर्वाण से भी श्रेष्ठ होगा तो वह भी भ्रम होगा।[23] बोधिसत्व स्वप्न मात्र है। यहाँ तक कि बुद्ध भी केवल एक नाम है और शुद्ध ज्ञान भी मात्र एक नाम है।[24] इसी प्रकार चन्द्रकीर्ति का मत है कि निर्वाण का अर्थ है प्रतीत होने वाली प्रवृत्ति की समाप्ति, इसे भाव अथवा अभाव नहीं कहा जा सकता?[25] इसी मत को आगे बढ़ाते हुए वह कहता है कि ऐसी स्थिति में कोई ज्ञान नहीं होता। यह ज्ञान भी नहीं कि प्रपंच की समाप्ति हो गयी है। स्वयं बुद्ध भी एक प्रपंच, आभास या स्वप्न ही हैं, इसी प्रकार उनके उपदेश भी।[26]

इस प्रकार हम पाते हैं कि अन्ततोगत्वा समस्त ज्ञान (शुद्ध एवं श्रेष्ठ भी) वास्तव में एक भ्रम ही है। अन्ततोगत्वा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध भी उसी प्रकार से शून्य है जिस प्रकार से जागतिक विषय धर्म शून्य हैं तथा उनके सम्बन्ध मात्र प्रतीति है वास्तविकता नहीं। किसी भी स्तर पर न तो कोई ज्ञेय है और न ही ज्ञाता। ज्ञेय और ज्ञाता का सम्बन्ध (ज्ञान) भी नहीं है। अतः परमार्थ और निर्वाण के कुछ होने में विश्वास मिथ्या है, एक भ्रम है। कुछ ऐसा नहीं है जिसकी प्राप्ति ज्ञान के द्वारा हो रही है। ज्ञान केवल अज्ञान को मिटा रहा है, जगत अथवा प्रपंच अज्ञान (जन्य) है। वह पूर्णरूप से मिट रहा है। अर्थात जो कुछ भी हैं (आभास, स्वप्न इत्यादि) वह पूर्णरूप से घट रहा है। किसी भी मात्रा में से उतनी ही मात्रा का घट जाना शून्य शेष रह जाना ही है। यह कुछ धनात्मक नहीं है जिसकी कि प्राप्ति हो रही है। इसके शेष के रूप में ज्ञान भी नहीं है क्योंकि अज्ञान निवारण के साथ ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों का ही निरास भी है। शेष केवल शून्य है। जब भी परमार्थ एवं निर्वाण को शून्याशून्य से परे; स्वीकार एवं नकार से परे; भावाभाव से परे कहा गया है, ऐसा प्रतीत होता है कि गणित की अवधारणा ऐसे कथनों के मूल में है। जिस प्रकार पूर्ण में से पूर्ण को घटा देने पर शून्य रहता है, शेष कुछ भी नहीं, उसी प्रकार जगत या प्रपंच या अज्ञान के हट जाने पर कुछ भी शेष नहीं रहता केवल शून्य बचता है क्योंकि इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कभी भी, कहीं भी, था नहीं। शून्य न तो Positive होता है और न ही Negative। वह न तो भाव होता है और न ही नकारात्मक भाव (अभाव)। शून्य को भाव रूप में न तो स्वीकारा ही जा सकता है और न ही उसका नकार किया जा सकता है। ठीक इसी प्रकार का बौद्ध शून्य भी है।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. यहाँ विचार और चेतना में भेद करना आवश्यक है। चेतना स्थिति है जबकि विचार क्रिया है। **2.** एडमंड हुस्सेर्ल इत्यादि दार्शनिकों द्वारा प्रणीत प्रपंच के सार को जानने की प्रणाली, एक पूर्वमान्यता रहित खोज, प्रचलित हिंदी अनुवाद 'संवृत्तिशास्त्र'। **3.** पालि में प्रतीच्चसमुत्पाद प्रमुख एवं सर्वाधिक मान्य व्याख्या के अनुसार 'अस्मिन सति इदम् भवति' अंग्रेजी में Theory of Dependent Origination. प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व उसके कारण पर निर्भर करता है तथा सब कुछ सापेक्ष है। **4.** कुछ भी शेष न रह जाने (की स्थिति) का सिद्धांत, पाश्चात्य दर्शन परंपरा में दत्ण्त्थ्त्द्मष्न नाम से प्रसिद्ध सिद्धांत। **5.**पालि भाषा में 'निब्बान' शाब्दिक अर्थ 'बुझ जाना', उदारहण दीये की लौ का बुझ जाना। **6.** पाश्चात्य चिंतन परंपरा में इसी विचार के समरूप विचार हीराक्लाइटस, डेविड ह्यूम, विलिं जेम्स, हेनरी बर्गसां अदि दार्शनिकों के रहे हैं। **7.** बुद्धघोष, विसुद्धिमग्ग, ध्त्त्त, 8। सुत्तनिपात, रतनसुत्त। **9.** सौंदरानंद। **10.** मिलिन्द्पन्नोह, ii, I, I । **11.** बौद्ध परंपरा में इस प्रकार का सिद्धांत जो महायान वैपुल्य सूत्र के अंतर्गत सद्धर्म पुण्डरीक की व्याख्या के अनुसार सामान्य बुद्ध शिष्यों अथवा अनुयायिओं हेतु विकसित है, को 'उपाय कौशल्य' के नाम से जाना जाता

है। 'साधन में कौशल' विभिन्न लोगों की आध्यात्मिक क्षमताओं को बयानों या कार्यों के माध्यम से सामने लाने की क्षमता है जो उनकी आवश्यकताओं के अनुसार समायोजित की जाती हैं और उनकी समझने की क्षमता के अनुरूप होती हैं।' कॉनज़े, एडवर्ड (2007), बौद्ध धर्म का एक संक्षिप्त इतिहास, वनवर्ल्ड प्रकाशन। **12.** गुप्त, सुरेन्द्र नाथ दास, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-1, हिंदी अनुवाद कलानाथ शास्त्री एवं सुधीर कुमार, राज. हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृष्ठ 161। **13.** नागार्जुन, माध्यमिक कारिका XVIII, 9। **14.** नागार्जुन, माध्यमिक कारिका, पृष्ठ-11।**15.** द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना। लोक संवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थितः।। नागार्जुन, माध्यमिक कारिका, XXIV, 8-9। **16.** नागार्जुन, माध्यमिक कारिका, कारिका 64। **17.** नागार्जुन, रत्नावली, I, 72। **18.** नागार्जुन, माध्यमिक कारिका XXV, 24। **19.** आर्यदेव, चतुःशतक, 325। **20.** वही. 287-289। **21.** वही. 194। **22.** चन्द्रकीर्ति, माध्यमिक वृत्ति पृष्ठ 24-34। **23.** अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृष्ठ 40। **24.** अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृष्ठ 25। **25.** न चा प्रवृत्तिमात्रम भावाभवेति परिकल्पितु पार्यते एवं न भावाभाव निर्वाणम्-चन्द्रकीर्ति, माध्यमिक वृत्ति, पृष्ठ 197। **26.** चन्द्रकीर्ति, माध्यमिक वृत्ति, पृष्ठ 162 एवं पृष्ठ 201।

❏❏

(विभागाध्यक्ष– दर्शन शास्त्र, बी. एन. डी.
राजकीय कला महाविद्यालय,
चिमनपुरा, जयपुर)
deepvastava@gmail.com
निवास : दर्शन, 92/81,
पटेल मार्ग, मानसरोवर, जयपुर 302020
मो: 7665203015

❖ मैं भी साधारण ही हूं लेकिन मेरी सफलता का राज कोई जादू नही बल्कि मेरा निरंतर अभ्यास और भरपूर कोशिश ही है।

❖ इतिहास में बिना साहसिक निर्णय के कोई भी खोज नहीं हुई।

❖ कोई चीज़ तब तक स्थिर या गतिशील अवस्था में बनी रहती है जब तक कि कोई बाहरी बल न लगाया जाए।

❖ सच तो हमेशा सादगी में बसता है बनावटीपन और उलझन में नहीं।

❖ यदि मैं दुसरों की तुलना में खुद को आगे पाता हूं तो ऐसा मैं महान दिग्गजों के कन्धों के सहारे पर ही कर पाया हूँ।

❖ मैं नही जानता हूं कि इस दुनिया में मेरा क्या रोल है, लेकिन मेरी नजर में मैं समुद्र के किनारे खेल रहे बच्चे के समान हूँ जो चिकने पत्थर और सीप खोजने में व्यस्त है जबकि मेरे सामने सत्य का अबूझ अथाह महासागर फैला हुआ है।

–आईजक न्यूटन

संत पीपा की वाणी में नैतिक मूल्य

डॉ. हवा सिंह

राजस्थान में झालावाड़ के निकट गागरोन के राजा प्रताप राव (1323-1400 ई.) स्वामी रामानन्द के शिष्य होकर संत पीपा नाम से प्रसिद्ध हुए। इनकी पत्नी सीता भी संत हो गई। ये भक्ति-साधना एवं समाज-सेवा में लग गये। इन्होंने पदों की रचना की। संत पीपा की वाणी ने भक्तों को भक्ति साधना के साथ-साथ समाज में सक्रिय कर्म करते रहने का उपदेश दिया है। संत पीपा ने भक्तों को वस्त्रों की बुनाई और सिलाई करने का उपदेश दिया है। संत पीपा के समाज में श्रम साधना का विशेष महत्व रहा है। संत पीपा ने श्रम कार्य में हिंसा को त्याग कर अहिंसक श्रम-कार्य की महती आवश्यकता पर बल दिया है। संत पीपा के तलवार को त्यागकर सूई को अपनाने के उपदेश का पालन लाखों भक्त आज भी करते हैं।

आज भी पीपा पंथी भक्तों की संख्या लाखों में है जो संत पीपा के उपदेशों का पालन करते हैं। ललित शर्मा ने लिखा है कि 'संत पीपा केवल आध्यात्मिक गुरु नहीं हैं वे तो समाज की प्रत्येक इकाई के पास जाकर तथा उसे अपना आदर्श संदेश देकर उद्यम करने की बात कहते हैं। संत पीपा ने अपने अनुयायियों को मुख्य रूप से वस्त्रों की सिलाई करने का उपदेश दिया। संत पीपा ने शस्त्र छोड़कर 'सूई' धारण करने का उपदेश क्यों दिया है? संत पीपा ने सूई के प्रतीक के रूप में समाज से हिंसा को त्याग कर अहिंसा को ग्रहण करने का उपदेश दिया है। शस्त्र तलवार हिंसा फैलाती है जबकि सूई कटे-फटे वस्त्र को जोड़ती है। संत पीपा का कहने का तात्पर्य यह है कि समाज के हित में हिंसा को त्याग कर अहिंसा को अपनाना ही समाज के हित में है। संत पीपा कहते हैं कि साधक को हाथों से सक्रिय कर्म करना चाहिए और मुख से राम नाम का स्मरण करते रहना चाहिए। जो साधक कर्म करके जीवन यापन करता है वही सच्चा साधु संत है उसके हृदय में राम की भक्ति रोम-रोम में रम जाती है। *हाथ दिये सौ उद्यम करै, जिहा सिमरन नाम। सतगुरु रे साथ चले, पीपा आठहुँ याम।।*

संत पीपा कहते हैं कि जो साधक समाज हित में कर्म करता है उसी से साधक और समाज दोनों का हित होता है। जिस साधक का राम की भक्ति में अटल विश्वास हो जाता है उसने अपने 'षट् रिपु' मदों पर विजय प्राप्त कर ली है। साधक समाज हित में निष्काम भाव से कर्म करता है। इससे साधक को सुख ही सुख मिलता है और साधक के जीवन में दुखों का जंजाल मिट जाता है, उसके जीवन में आनंद ही रहता है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि 'सन्तमत में श्रम साधना को भी विशेष महत्त्व एवं मर्यादा प्राप्त है। इसके मूल में आत्मनिर्भरता तथा स्वालम्बन की भावना क्रियाशील रहती है जिसके बिना नैतिक जीवनयापन करना न तो शक्य है न संभव। सन्तों को न तो किसी के अनुग्रह अथवा उपकार की अपेक्षा है न संचय करने की उनकी प्रवृत्ति है। संत पीपा सद् कर्म करने का आह्वान करते हैं उसका

फल भी अच्छा मिलेगा, जो भक्त समाज में बुरे कार्य करता है उसका फल भी कष्टदायी होगा। व्यक्ति को किए गए कर्मों का फल मिलना तय है उसमें बाप-बेटा कोई भी संबंधी भागीदार नहीं बनते हैं सब लोग दूरी बना लेते हैं– *'पीपा पाप न कीजिये, अलगी रहिजै आप। करणी जासी आपणी, कुंण बेटो कुण बाप।।'*

संत पीपा ने जीवन को सुख-दुःख की अनुभूति का समन्वय माना है। भक्त के जीवन में न दुख रहता है न हमेशा सुख रहता है। पीपा ने हरि का नाम स्मरण किया है जिससे पीपा के जीवन में सुख और दुख का भेद मिट गया है। जो व्यक्ति समाज हित में कर्म करता है उसी से साधक और समाज दोनों का हित होता है। *तन मन धन अर्पण करै, साध जनां के काज। पीपा जीणो परहिते, अर मरणों पर के काज।।*

संत पीपा ने उस साधक की आलोचना की है जो समाज में सक्रिय कर्म नहीं करता है। संत पीपा का मानना है कि साधक आलस्य भाव से घर में बेकार बैठा रहता है, वह साधक स्वयं और समाज दोनों का अहित करता है। संत पीपा भक्त से अपेक्षा करते हैं कि जिस प्रकार बादल बिना भेदभाव किए वर्षा करता है और बादल वर्षा करने के बदले फल की आकांक्षा नहीं करता है उसी प्रकार साधक को लोकहित में निष्काम भाव से कर्म करने चाहिए। जिससे साधक और समाज दोनों का हित होता है– *जे कोई मुरख आलसी, बैठ्यो मारे झक। पीपा बादल रो धरम, बरखा करे निसंक।।*

संत पीपा ने भक्ति साधना में श्रम निष्ठा को सबसे बड़ा गुण माना है। संत पीपा ने श्रम के प्रति प्रेमभाव दिखाया है और समाज को सक्रिय कर्म में लीन होने का उपदेश दिया है। संत पीपा ने साधक को आजीवन परहित में कर्म करने का उपदेश दिया है। संत सैन ने भी पीपा के समान ही भक्त को हाथों से सक्रिय कर्म करना और मन में राम की भक्ति करते रहना चाहिए। संत सैन कहते हैं कि पीपा ने सूई का उपदेश दिया है सूई और साधक कटे-फटे को जोड़ देते हैं साधक समाज में प्रेमपूर्वक दो को एक कर देते हैं। पीपा का सूई का ज्ञान बहुत गहरा अर्थ रखता है, सुई फटे को एक करती है जबकि तलवार घात करके काटती है और एक को दो कर देती है– *पीपा ज्ञान दियो सुई को कह दी मोटी बात। सैना सुई सीव दे, खड्ग करे झट घात।।*

संत पीपा की पत्नी संत सीता ने भी पीपा के समान श्रम निष्ठा पर बल दिया है। साधक को भाग्य के बजाय कर्म में विश्वास करना चाहिए। साधक को भाग्य के भरोसे बैठकर समय व्यर्थ नहीं करना चाहिए। सामाजिक जीवन में सद्बुद्धि से कर्म करना चाहिए। साधक का कर्म ही सत्य है। संत सीता कहती हैं कि हम दिन में कपड़ों की बुनाई करते हैं और सूई से कपड़ों की सिलाई करते हैं, बुनाई के साथ में राम की भक्ति का सत्संग करते हैं– 'निस दिन सीवों कपड़ा करां सुई रो काम। सीता सत्संग नी तजाँ, तजाँ न सिमरण राम।।

संत पीपा और सीता ने समाज हित के लिए तन, मन और धन का अर्पण कर दिया। संत पीपा ने लोक जीवन के परमार्थ के लिए जीवन जीया। पीपा की जनजीवन के प्रति गहरी संवेदना रही। पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने लिखा है कि 'काव्य का काव्यत्व इसी में है कि वह अंतःजीवन को व्यक्त करे। जिसके भाव जीवन में अनुभूति नहीं वह कविता कविता नहीं हो सकती। संत पीपा पर-पीड़ के लिए साधक से प्राणों तक को न्यौछावर करने की अपेक्षा करते हैं। जो साधक समाज हित के लिए तन, मन, धन का अर्पण करता है उसी साधक का जीवन सफल हो पाता है। संत पीपा अपने 'हरि' को 'उपालम्भ' देते हैं कि साधक से भूखा रहकर राम की भक्ति करना संभव नहीं है। साधक से बिना भोजन के न संगीत की पखावज बजेगी और न ही हरि के भजनों की मधुर धुन निकलेगी। जब भक्ति में भजनों से मधुर संगीत नहीं बजेगा तब हरि भी नहीं रीझेगा। संत पीपा कहते हैं कि 'हे राम तेरी भक्ति भूखे पेट नहीं हो सकती और बिना भोजन पखावज बजेगी तो उससे नाद नहीं निकलेगा। उसके नाद पर भक्त नहीं रीझेगा। हे हरि गोपाल आठ रोटी रात को और उतनी ही सवेरे, कुल सोलह रोटी देना। इतने से एक भी कम दी तो तेरी भक्ति की जापमाल संभाल लो– *'राम तेरी भूखा भगति न होई। भोजन बिना पखावज बाजै, तौ नाद न रीझै कोई।। टेक।। आठ अंबारी, आठ सवारी, सोला दे गोपाला।*

संत पीपा ने अपने स्वामी से आठ रोटियां सुबह और उतनी ही शाम को मिलने की माँग रखी है। इसके साथ ही सावन में पंचपारी लड्डू, स्वादिष्ट सेवइयों और लापसी आदि मिलनी चाहिए। उसके बाद ही राम की भक्ति करना संभव है। संत पीपा ने उपवास रखने के आडम्बर की खिल्ली उड़ाई है। संत पीपा ने अन्न न ग्रहण करने वाले लोगों को पाखण्डी कहा है। पीपा तो अपने प्रियतम से भोजन की मांग करते हैं, भोजन मिलने के बाद ही भक्ति करना पसंद करते हैं। संत पीपा भक्ति साधन के लिए स्वस्थ रहना चाहते हैं, जिससे अपने पीव की आठों पहर अखण्ड भक्ति कर सकें, संत पीपा को विश्वास है कि इतनी दया तो स्वामी को करनी ही पड़ेगी। संत पीपा ने साधक को भूखा रहकर काया को कष्ट न देने का उपदेश दिया है। भक्त के भूखा रहने पर काया में अनेक रोग हो जाते हैं जिससे हरि की भक्ति-साधना में बाधा ही आती है– भूखे भक्ति न कीजै, यह माला अपनी लीजै। संत कबीर ने भी पीपा के समान दो सेर आटा, आधा सेर दाल, पाव भर घी और थोड़ा सा नमक स्वामी से मांगा है। संत पीपा ने स्वामी से साधारण भोजन ही मांगा है जबकि कबीर ने भोजन के अलावा जीवन की बुनियादी वस्तुएं भी मांग ली हैं। कबीर माधव से सोने के लिए चारपाई और तकिया भी मांगते हैं, इसके बाद ही कबीर माधव की अखण्ड भक्त करने का वादा करते हैं। इससे स्पष्ट है कि भक्तिकालीन संत कबीर और पीपा आदि के समक्ष जीवन निर्वाह की चुनौती रही है। संतों का जीवन समाज में अभावग्रस्त रहा है। कबीर और पीपा की वाणी का गूढ़ अर्थ भी निकाला जा सकता है। संत पीपा के समय जन जीवन की आर्थिक स्थिति दयनीय रही है। जिसके कारण समाज में भूख चरम सीमा पर रही है। संत कबीर और पीपा को कहना पड़ा कि 'हे राम तेरी भूखा भक्ति होई। भक्त करने के लिए भोजन आवश्यक है।

संत पीपा धनवान लोगों से दान रूप में या उधार लेकर उसे गरीब भक्तों और जनता में बाँट देते हैं। संत पीपा के दान देने की ख्याति आज भी लोकजीवन में खूब प्रचलित है। संत पीपा के पास चार कपटी चोर भक्त का वेश धारण करके आए। उन्होंने संत पीपा से उनकी सहचरी सीता को मांग लिया। पीपा ने कहा सीता को ले जाओ। जब कपटी चोर घर के भीतर गए तब उन्हें बाघिन बैठी दिखाई देती है। यह देखकर चोर भयभीत हो गए और पीपा से माफी मांगी और पीपा के शिष्य बन गए– *मांगण लागा नारि कहयो पीपा लेहुँ भाई। बाघणि देखी मोहिं भागी साधां पै जाई।।*

संत पीपा ने समाज में हिंसा का त्याग करने का उपदेश दिया। संत पीपा कहते हैं कि जो साधक जीव की हत्या करता है, मांसाहारी भोजन करता है और भोजन करते समय मांसाहारी भोजन का गुणगान करता है ऐसे साधक की थाली को पीपा साक्षात श्मशान की उपमा देते हैं– *जीव मारि जीमण करै खातां करै बखाण। पीपा परतख देख लै थाली माहि मसाण।।*

संत कबीर ने भी पीपा के समान जीव की हत्या को सबसे बड़ी हिंसा का रूप माना है। कबीर कसाई से कहते हैं कि तुम जीवों को मारते हो और तुम कहते हो कि हमने जीव का हलाल किया है। जब मालिक तुमसे तुम्हारे हिंसक कर्मों का हिसाब लेगा उस समय तुम्हारा क्या हाल होगा? इसकी परिकल्पना करो। कबीर ने 'हलाल' (रेत कर माना) और 'झटका' (झट से मारना) दोनों प्रकार की हिंसा को पाप माना है। पीपा समाज में हिंसा को अस्वीकार किया है। जो भक्त हिंसा करता है उसके हृदय और मन में प्रेम, दया, क्षमा आदि मूल्य नहीं रहते हैं। जो साधक जीवों के प्रति हिंसा करता है, वह जीवन में हरि की भक्ति भी प्राप्त नहीं कर पाता है। संत पीपा कहते हैं कि जो साधक मानव और जीवों को पीड़ा देता है और जीवों को कष्ट देने का विचार रखता है वह पशु तुल्य है, उसमें मानवीय गुण नहीं है। संत पीपा ने हिंसक लोगों को ही समाज में शूद्र माना है, समाज में हिंसा करने वाले ही अछूत हैं– *छिमा दया हिरदै नहीं, कहीं न सांची कूंत। पीपा जे जिव पीड़ते, ते पसु सुद्र अछूत।।*

संत पीपा ने अपनी वाणी में साधक से मनुष्य और अन्य जीवों को तन, मन से पीड़ा न देने की अपेक्षा की है। जो साधक परहित में ही अपना सुख समझे और राम की भक्ति के साथ परहित में लीन रहे उसी साधक को पीपा ने श्रेष्ठ भक्त माना है। पीपा के बचपन में

महामाई जालपा देवी के नित्य पशुबलि होती थी। इस ना-समझी हिंसा पर पीपा दुख व्यक्त करते हैं और क्षमा याचना मांगते हैं। संत पीपा प्रश्न करते हैं कि इस महामाई जालपा ने आज तक किसी जीव को जीवित नहीं किया है– *पीपा थोड़ै अंतरै घंणी बिगूती सोइ। महामाई मारया घंणां तारयौ नांही कोई।।*

संत पीपा, कबीर आदि संतों ने समाज में हिंसा का त्याग करना और अहिंसा को अपनाना ही परम धर्म माना है। संत पीपा ने उपदेश दिया है कि साधक का मन, वचन और कर्म से अहिंसा का पालन करना परम कर्तव्य है। डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने लिखा है कि 'निर्गुण केवल अहिंसा का ही सिद्धांत स्वीकार नहीं करता वह अवरोध का भाव भी अपनाये रहता है। किसी को भी मनसा वाचा व कर्मणा से हानि न पहुँचनी चाहिए। मांसभक्षण का उन्होंने स्पष्ट शब्दों में निषेध किया है। संत पीपा केवल मनुष्य से ही प्रेम नहीं करते बल्कि उन्होंने प्राणी मात्र से भी प्रेम किया है। संत पीपा की वाणी में जीव और मनुष्य में अंतर नहीं है। संत पीपा ने कहा सभी जीवों के भीतर एक समान रक्त का प्रवाह होता है। इसलिए मनुष्य को अपने भोजन के लिए किसी जीव के प्राण लेने का अधिकार नहीं है। संत पीपा का जीवों से प्रेम संबंधी रोचक वर्णन पीपा चरित्र और पीपाजी की परची में मिलता है। पीपा और सीता एक बार जंगल से गुजर रहे थे। उनके सामने अचानक हिंसक सिंह आ गया। लेकिन उनके सामने हिंसक सिंह सिर झुकाये आज्ञाकारी पशु की तरह सामने लौट गया। इस विषय में ललित शर्मा ने लिखा है कि सीता सहचरी ने कहा, नाथ जंगल के राजा का उद्धार कीजिये। संत पीपा ने तब सिंह के सिर पर हाथ रख दिया और सिंह के कान में गुरु मंत्र फूंका और कहा 'तुम इसी मंत्र का जाप कर ईश्वर का ध्यान करो वह तुम्हारा कल्याण करेगा, हिंसक वृत्ति को त्याग दो। संत पीपा सिंह से पूछते हैं कि क्या तुमने जन्मते ही मांस खाया था, जब उस समय का दूध पिया, तो अब हिंसा क्यों करते हो? हिंसा को त्याग दो। सिंह को उपदेश के संबंध में 'पीपा चरित्र' और 'पीपाजी की परची' में लिखा है कि पीपा ने सिंह से कहा अरे भाई राम का स्मरण कीजिए, इससे सिंह शांत हो जाता है और पीपा तथा सीता को सिंह प्रणाम करता है। संत पीपा सिंह को गुरु मंत्र देते हैं और सिंह पीपा का शिष्य बन जाता है। सिंह हिंसा का त्याग कर देता है।

संत पीपा ने साधक को जीवन में पाप न करने का उपदेश दिया है। पीपा ने संत जीवन में कोई पाप-कर्म नहीं किया। संत पीपा ने दीन गरीब लोगों और साधुओं में दान-पुण्य का कार्य सैकड़ों बार किया। उन्होंने अपने जीवन में किसी से कुछ मांगा नहीं। अपितु पीपा ने दीन हीन गरीबों को दान ही दिया। संत पीपा ने समाज के गरीब लोगों को धन देकर परोपकार ही किया। संत पीपा ने संसार को समझ लिया, इसमें पुण्य और पाप को देख लिया। इस संसार के सभी जीव दुःख और संकट में फंसे हुए हैं। इन जीवों को माया रूप सांकल की जंजीरों ने जकड़ रखा है, इनसे जीव को मुक्ति नहीं मिल पा रही है। लोग जीवन में दान और पुण्य करके सांकल रूपी जंजीरों से मुक्ति पाने की लालसा करते हैं। लेकिन जीवन और मरण के चक्र से मुक्ति मिलती नहीं है। समाज में कुछ लोग दान और पुण्य का दिखावटी ढोंग करते हैं। परन्तु इनसे कुछ होता नहीं है? उनके इस जीवन में सभी दान-पुण्य व्यर्थ हो जाते हैं। संत पीपा ने समाज में फैली दान-पुण्य की प्रथा को झूठा माना है। जब संसार में परमात्मा और जीव में द्वैत की भावना नहीं है तो मनुष्य किसके साथ पाप करता है और कौन पाप को भोगने वाला है। संत पीपा ने पाप-पुण्य के आडम्बर का खण्डन किया है।

संत पीपा ने साधक से दुराचार के अवगुणों का त्याग करने का उपदेश दिया है। संत पीपा ने साधक को समाज में कायर नहीं बनने का उपदेश दिया है। कहा– अपने जीवन में शूरवीर की तरह रहें। इसके लिए साधक को षटरिपु अवगुणों पर विजय प्राप्त करनी होगी। साधक को जीवन में आलस्य, अधीरता, छल, कपट, ईर्ष्या, काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार का त्याग कर देना चाहिए। संत पीपा कहते हैं कि साधक को जीवन में इन्द्रिय संयम का प्रयास करना चाहिए। संत पीपा ने काम, क्रोध, काम और अहंकार के अवगुणों को नरक के द्वार के समान माना है जो साधक जीवन

में अवगुण रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है, पीपा उसी को समाज में साहसी शूरवीर मानते हैं– *अलस, अधीर, छ्ल, ईर्ष्या, काम, क्रोध, मद चूर। पीपा जिण नै जीतिया, तैंह जन सांचा सूर।।* संत पीपा का कहना है कि षट्‌रिपु अवगुण भक्त की आत्मा का विनाश कर देते हैं, साधक को जीवन की अधोगति की ओर ले जाते हैं। इसलिए साधक को इनका त्याग करना आवश्यक है। पीपा ने 'चितावणी जोग' ग्रंथ में कहा है- - *'अरि बलवन्त अति अहंकार, त्रिष्णा काम क्रोध विकारा। मारग मांहि मान गुंमानं सनमुखं लड़े साधें बान।।'*

संत पीपा ने 'चितावणी' में साधक के अहंकार, तृष्णा, काम, क्रोध को प्रबल शत्रु माना है। इसी कारण पीपा ने भक्त को उपदेश दिया है कि तुम जीवन में कायर मत बनो। जब माया रूपी शत्रु मार्ग में आए तब साधक को इनका सामना साहस के साथ करना चाहिए। संत पीपा कहते हैं कि साधक की काया में पाँच विकार- - काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह नाग की पाँच पद्मनियों की तरह फुफकारते रहते हैं इसलिए इनसे साधक को सचेत रहने की आवश्यकता है। इन विकारों के रहते साधक के चित्त में एकाग्रता नहीं आती है। क्योंकि इन विकारों के प्रभाव से मन पवन की गति की तरह चंचल ही रहता है। इसके लिए माया रूपी पाँचों विकारों पर विजय प्राप्त करनी है। उसके बाद साधक को अहंकार का त्याग करना होगा। जब साधक अहंकार को त्याग देता है उससे साधक के मन में विनम्रता का गुण आ जाता है। साधक के जीवन में विनम्रता पूर्ण रहना बहुत कठिन है। क्योंकि साधक के मन से अहंकार का भाव जाता नहीं है। भक्त के मन में अहंकार का भाव बार-बार आता रहता है जब तक उसे गुरू का ज्ञान मंत्र प्राप्त नहीं हो जाता। संत पीपा कहते हैं कि मनुष्य द्वारा समाज में अहंकार और प्रभुत्व दिखाना तो सरल काम है। जबकि साधक का समाज और स्वामी का दास बनकर रहना बहुत कठिन है। यह भी जीवन का सत्य है कि भक्त को विनम्र हुए बिना स्वामी की भक्ति-साधना करना कठिन ही नहीं बल्कि असाध्य है। इस लिए साधक को विनम्र हुए बिना जीवन में मुक्तिनहीं मिल सकती– *स्वामी होणो सहज है, दुर्लभ होणो दास। पीपा हरि के नाम बिनुं कटै न जम री फांस।।* संत पीपा ने साधक को अहंकार के 'त्याग का उपदेश दिया है साधक को मन में अहंकार नहीं पालना चाहिए इसी झूठे अभिमान के कारण रावण का शक्तिशाली राज्य लंका बर्बाद हो गया। इस लिए साधक को झूठा गरब भी नहीं रखना चाहिए इससे साधक का जीवन गर्त में ही जाता है। रावण ने अहंकार और गरब किया जिसके कारण उसका पूरा राज्य नष्ट हो गया। *जाके बाण अग्नि तेज, सम पवन चलतै दल भारी। लंका पति हारि गयौ रावण अहंकारी।।*

संत पीपा ने अपनी वाणी में साधक को सदाचारी जीवन जीने पर विशेष बल दिया है। सच्चे साधक जीवन में दुःख, संकट आने पर भी सत्य मार्ग से विचलित नहीं होते हैं और जीवन में कितना भी उतार-चढ़ाव आए लेकिन सदाचार से जीवन व्यतीत करते हैं। संत पीपा कहते हैं कि जैसे सांप अपनी मणि का त्याग नहीं करता है, बछड़ा अपनी मां के स्तनपान का त्याग नहीं करता है, मछली समुद्र का त्याग नहीं करती है ऐसे ही सदाचारी भक्त अपने जीवन में धर्म और कर्तव्य का त्याग नहीं करते हैं। वह अपने जीवन में सदाचार के मूल्यों में अटल विश्वास रखता है।

❑❑

PDF, SCHOLAR ICSSR DELHI
DEPARTMENT OF HINDI
UNIVERSITY OF DELHI
Email- hawasingh25@gmail.com
M. 9069576732

प्रसाद की 'कामायनी' : छायावाद की गीता

अरुण कुमार शर्मा

कामायनी न केवल प्रसाद वांगमय की अद्वितीय कृति मानी जाती है बल्कि छायावादी हिन्दी काव्य की भी श्रेष्ठतम कृति कही जाती है। यह आर्ष दृष्टि से जीवन को परिभाषित करने वाली श्रेष्ठतम कृति है। प्रसाद ने कामायनी में आध्यात्मिक और वासनात्मक काम के रूप का सर्जनात्मक काम में समन्वय किया है। छायावादिता में आत्मिकता तथा धर्म-भावुकता का मेल होता है। यथार्थ में उसमें ये दो प्रमुख अवलम्ब हैं। छायावादी कवियों की दृष्टि में कविता में हमेशा दृष्टि-कूटक बातें रहनी चाहिए। जयशंकर प्रसाद की दृष्टि में काम श्रेयस्कर मंगलमय, विशुद्ध और विश्व की मूल शक्ति है। वह सृष्टि की उल्लास लीला है। कामायनी में श्रद्धा मनु के लिए आकर्षण भी है, वह सन्तति की रचना भी करती है। इसीलिए प्रसाद ने उसे पूर्ण काम की प्रतिमा 'कामायनी' कहा है। *वह विश्व चेतना पुलकित। थी पूर्ण काम की प्रतिमा।।*

श्रद्धा से विमुख होने पर मनु माया की स्थिति में आ जाते हैं, जब वे श्रद्धा से संयुक्त होते हैं तभी वे अपने महा-प्रकाश वपु और आनन्द स्वरूप का अभिज्ञान कर पाते हैं। इसका कारण श्रद्धा ही ज्योतिमती अर्थात् प्रकाश स्वरूपा है। छायावाद वस्तुतः रहस्यवाद का ही रूप है। रहस्यवाद साहित्य से बाहर धर्म का गुण है और साहित्य में आकर भक्त कवि की ईश्वरानुभूति का ही धुंधला उद्गार हुआ करता है। वह धर्म का आनन्द पथ और काम का धार्मिक स्वरूप है। 'कामायनी' में श्रद्धा के प्रकाश से ही मनु शुद्धाध्व में स्थित हो पाते हैं। शुद्धाध्व से मनु का द्वैत मिट जाता है और उन्हें 'शिवोऽहं' की अनुभूति होती है। वस्तुतः कामायनी पर पूर्णतया शैव दर्शन का प्रभाव है। प्रसाद जी का प्रबल मत है कि यह जगत सत्य भी है और चिर सुन्दर भी। यहां सब की सेवा का अर्थ है अपनी सेवा क्योंकि अभेद होने पर कोई दूसरा नहीं रह जाता। यदि जीव अभेद तत्व को समझ ले तो जगत की विडम्बनाओं का शमन हो जायेगा और सारा विश्व एक नीड़ हो जायेगा। *सब भेद, भाव, भुलवाकर/ दुःख सुख को दृश्य बनाता। मानव कह रे, यह मैं हूं/ यह नीड़ विश्व बन जाता।*

छायावाद में मूलतः सौंदर्य एवं प्रेम की गहन अभिव्यंजना है। यहां सौंदर्य बोध परिष्कृत और उदात्त सांस्कृतिक चेतना से सम्पृक्त है। सौंदर्यानुभूति के कारण छायावाद में आत्मप्रसार की चेतना फलीभूत हुई। इससे वस्तु जगत के चित्रण को भावमय आभा प्रदान करने में सहायता मिली। सौंदर्य एवं आनन्द के उन्मद भावों की साधना जब धर्म के माध्यम से होने लगती है तब साहित्य में एक प्रकार की वाणी प्रकट होती है जिसमें अध्यात्म की माधुरी के साथ काव्य का चमत्कार सन्निहित रहता है। इस मिश्रण में अध्यात्म का मूलाधार ज्ञान और आनन्द का उद्गम स्थल भक्ति होती है। साहित्य में एक परम्परा है जो शुद्ध भक्ति के उद्गारों को प्रार्थना कहती है, इस परम्परा के अनुसार रहस्यवाद की रचनायें वे ही होती हैं जो ज्ञान और भक्ति के समन्वय से जन्म लेती हैं।

'कामायनी' में प्रसाद की कुलगत आस्था के केंद्र में शिव-भक्ति ही सर्वोपरि रही है। वे कर्मकांडी शैव थे। कश्मीरी प्रत्यभिज्ञा दर्शन उनके चिन्तन का केंद्रीय पक्ष रहा है। प्रसाद जी नियमित रूप से पांच-छह घंटे संस्कृत, पौराणिक और ऐतिहासिक ग्रंथों का अध्ययन किया करते थे। इससे स्पष्ट है कि प्रसादजी का ब्राह्मण ग्रंथों, उपनिषदों पुराणों और काश्मीरी शैवागम का गहन अध्ययन था। इन सभी के प्रभाव की पुष्टि कामायनी में होती है।

कामायनी में प्रत्यभिज्ञान दर्शन का मूलभूत सिद्धांत समाहित है– (1) जब जीवात्मा को प्रत्यभिज्ञान हो जाता है तो वह विश्वात्मा का अनुभव करता है। (2) प्रत्यभिज्ञा दर्शन का मूलाधार है चिति, चित्त और चेतन। परम शिव की अपनी स्वातंत्र्य शक्ति के कारण वह 'चिति' के द्वारा विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्मक रूप में स्थित रहता है। यह 'चिति' ही शिव-शक्ति है और परम शिव में ही इसका अंतर्भाव है। सृष्टि निर्माण की कामना होने पर यह 'चिति' ही जगत में व्यक्त हो जाती है। जैसा कि प्रसाद लिखते हैं– *काम-मंगल से मंडित श्रेय। सर्ग इच्छा का है परिणाम।।* यह चिति ही इच्छा, ज्ञान, क्रिया का त्रिक है। प्रसाद 'चिति' को महाचिति का सम्बोधन देते हैं। इस त्रिकोण के मध्य बिन्दु तुम। *शक्ति विपुल क्षमता वाले थे। एक-एक को स्थिर हो देखो। इच्छा ज्ञान क्रिया वाले थे।।* स्पष्ट है कि जगत उस चिति का ही स्वरूप है, उसी का प्रसाद है। जगत की संविभक्ति शिव शक्ति चिति से होती है और परम शिव की भांति यह जगत भी शाश्वत है। *चिति का स्वरूप यह नित्य जगत। वह रूप बदलता है शत-शत। कण विरह-मिलनमय नृत्य निरत, उल्लासपूर्ण आनन्द सतत।।*

कामायनी में मनु के विषाद व चीत्कार से एक विशिष्ट काव्य-भाषा का जन्म हुआ है। वह देव सभ्यता के ध्वंस पर विलाप कर रहा है। कामायनी की भूमिका में प्रसाद जी ने जल प्लावन की घटना को इतिहास मानते हुए कहा है-- मन्वन्तर के प्रवर्तक मनु भारतीय इतिहास के आदि पुरुष हैं। कामायनी महाकाव्य नवीन शैली में लिखा हुआ महाकाव्य है। कामायनी की कथा प्रतीकात्मक है। पौराणिक कथा के साथ-साथ यह रूपक भी है। श्रद्धा सनातन स्तीत्व की प्रतीक है और मनु सनातन पुरुषत्व का प्रतीक है।

कामायनी में जगत, सांख्य दर्शन एवं बौद्धों की भांति दुःखमय नहीं है तथा शंकर मत के समान मिथ्या भी नहीं है। कठिन संघर्ष के बाद जीवन में समरसता स्थापित कर मनु को अंततः आनन्द की प्राप्ति होती है। आचार्य अभिनव गुप्त ने लिखा है कि आनन्द शक्ति में विश्रांति पाने पर ही योगी को समरसता की स्थिति प्राप्त होती है। इस स्थिति में पहुंचकर द्वैत समाप्त हो जाता है। चित्त की स्थिति अद्वैत हो जाती है। समरसता निगम आगम दोनों में मिलती है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जीव के अखंड आनंद की अनुभूति से जुड़ने को समरसता का भाव कहकर सर्वथा दर्शनगत मौलिक स्थापना की गई। प्रसाद इसी प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रकाश में जीवात्मा को समरसता का अधिकारी मानते हैं। कामायनी का समरसता सिद्धांत मानव जीवन के लिए अत्यंत प्रासंगिक है। बुद्धि और हृदय का असंतुलन ही सामाजिक विषमता का प्रमुख कारक है। श्रद्धा का कथन है– *यह तर्कमयी तू श्राद्धमय। तू मननशील कर कर्म अभय। इसका तू सब संताप निचय। हर ले, हो मानव भाग्य उदय। सब की समरसता का प्रचार, मेरे सुत सुन मां की पुकार।*

कामायनी महाकाव्य नये युग का आवाहन का प्रतीक भी है। मनु के समरसता प्राप्त कर लेने पर सारा 'अहं' इदम् में पर्यवसित हो जाता है। जीवन वसुधा समतल हो जाती है। वे सभी पदार्थों में समरसता देखने लगते हैं। शापित है यहां न कोई। वापित पापी न यहां है। जीवन वसुधा समतल है। समरस है, जो कि यहां है।। कामायनी को छायावाद की गीता कहा गया है। प्रसाद ने भारतीय दार्शनिक मूल्यों की जमीन पर यथार्थ को उतारना चाहा। प्रसाद जी ने नैतिकता पूर्ण मानवतावादी, आध्यात्मिक भावना से ओत-प्रोत समन्वयवाद की प्रतिष्ठा की। कामायनी का महत्व छायावाद की पृष्ठभूमि में आधुनिक समरसता के सिद्धांतों को लेकर आज भी कम नहीं होता।

❑❑

(से.नि. निदेशक- भाषा एवं संस्कृति, हि.प्र.)
ग्रा. शोधी, जिला- शिमला
(हिमाचल प्रदेश) - 171219

हिन्दी नई कहानी में विपन्नता से त्रस्त मध्यवर्ग

डॉ. सिन्धु जी नायर

मध्यवर्ग हो या निम्नवर्ग अर्थाभाव के कारण टूटते जा रहे हैं। व्यक्ति आर्थिक तंगियों के कारण परेशान है। मध्यवर्ग अपनी सफेदपोशी के नीचे आर्थिक दृष्टि से बहुत खोखला है। आधुनिक काल में हिन्दी में 'नई कहानी' आंदोलन के कहानीकारों ने अर्थाभाव के कारण उत्पन्न विसंगतियों को गहन अनुभूति से प्रस्तुत किया है। इन कहानीकारों ने आर्थिक विषमता के दबाव से बनते-बिगड़ते मध्यवर्गीय संबंधों का आकलन किया है। पति-पत्नी के बीच संबंधों की दूरी का एक कारण धन है, इस दौर के कहानीकारों ने इस स्थिति का करुण चित्र प्रस्तुत किया है। इन में कमलेश्वर, शेखर जोशी, मोहन राकेश, अमरकांत, मन्नू भण्डारी, कृष्ण बलदेव वैद आदि की कहानियाँ प्रमुख हैं।

गरीबी का नग्न रूप अमरकांत की कहानी 'दोपहर का भोजन' में देखने को मिलता है। लेखक ने इस कहानी के माध्यम से मध्यवर्गीय जीवन की गरीबी और विवशता को रेखांकित किया है। सिद्धेश्वरी दोपहर का भोजन बनाकर बैठी है। बड़ा बेटा रामचन्द्र खाना खाने आता है। वह एक स्थानीय दैनिक समाचार पत्र में प्रूफरीडरी का काम सीख रहा है। उसने पिछले साल इंटर पास किया है। सिद्धेश्वरी का दूसरा बेटा मोहन इस साल हाईस्कूल का प्राइवेट इम्तहान देने की तैयारी कर रहा है। बारी-बारी से दोनों बेटे दो-दो रोटियां खाकर उठ जाते हैं। माँ दोनों से ही एक और रोटी लेने का आग्रह करती है किन्तु उस घर में सभी जानते हैं कि उनके हिस्से में केवल दो रोटियां ही हैं। तीसरी रोटी लेने का अर्थ है दूसरे का भोजन छीनना। इसी वजह से सब पेट भरा होने का बहाना करके उठ जाते हैं। वह मोहन से कहती है कि 'बड़का तुम्हारी बड़ी तारीफ कर रहा था। कह रहा था, मोहन दिमागी होगा, उसकी तबीयत चौबीसों घंटे पढ़ने में ही लगी रहती है।'[1] इस के बाद मुंशी चन्द्रिका प्रसाद (पिता) आते हैं। सिद्धेश्वरी पति के सामने बेटों की तारीफ करती है। वह कहती है कि बच्चे पिता को देवता के समान मानते हैं। वह पति से भी एक और रोटी लेने का आग्रह करती है। बाद में सिद्धेश्वरी बची हुई एक रोटी को आधा करके सब्जी के साथ खाकर पानी पीकर पेट भरती है क्योंकि आधी रोटी प्रमोद के लिए है। मां घर की गरीबी और वास्तविक स्थिति को छिपाती रहती है। वह परिवार के सदस्य्यों के बीच पारस्परिक स्नेह को बनाये रखने के लिए बेटों और बाप से एक-दूसरे की प्रशंसा करती है। लेखक ने पढ़े-लिखे बेरोजगार बड़े पुत्र और डेढ़ महीने पूर्व नौकरी से हटे पति के परिवार की अवस्था का वास्तविक चित्रण किया है। अमरकांत की एक और कहानी 'डिप्टी कलक्टरी'[2] आर्थिक तंगी को झेलते परिवार को प्रस्तुत करती है। शकलदीप बाबू मुख्तार हैं। परन्तु डेढ़-दो साल से उनसे मुख्तारी का काम संभाला नहीं जाता है। बुढ़ापे के कारण अब वे पहले जैसे काम नहीं कर पाते हैं। इसी वजह से मुवक्किल उनके पास कम ही आते हैं। वे इस स्थिति में

राम का नाम लेकर कचहरी जाते हैं और जो थोड़ा बहुत कमाई होती उसी से घर चलता है। शकलदीप बाबू का बेटा नारायण इस साल डिप्टी कलक्टरी की परीक्षा के लिए बैठना चाहता है। फीस भरने के लिए पैसे का इन्तज़ाम शकलदीप बाबू को उधार लेकर करना पड़ा है। परीक्षा से इन्टरव्यू तक पहुँचकर भी नारायण डिप्टी कलक्टर बनने में सफल नहीं होता है। इस कहानी में लेखक ने इस पीड़ा को इंगित किया है कि मध्यवर्गीय व्यक्ति काबिल होकर भी असफल हो जाता है। जब वह असफल हो जाता है तब माता- पिता यह सोचकर आश्वस्त हो जाते हैं कि बेटा सही सलामत है!

किसी को विषम परिस्थिति में सहायता करने की मनःस्थिति होते हुए भी मनुष्य मदद करने में निस्सहाय हो जाता है। इस बात का जिक्र अमरकांत की कहानी 'जिंदगी और जोंक' में है। इस कहानी का पात्र 'मैं' असमर्थ है। रजुआ के हैजा होने पर किसी ने भी उसकी मदद करने से इन्कार कर दिया है। कोई दवा-दारू करने के लिए तैयार नहीं है। 'मैं पत्नी को बताता है कि रजुआ दस्त से पस्त होकर खण्डहर में पड़ा हुआ है। 'मैं' उसके लिए कुछ करना चाहता है, लेकिन निस्सहाय है। लेखक उसकी आर्थिक अवस्था का वर्णन इस प्रकार करता है, 'वह लगभग सौ रुपए वेतन पाता था, इसके अलावा महीने का अन्तिम सप्ताह था, उसके पास एक भी पाई नहीं थी।[3]

मन्नू भण्डारी की कहानी 'सजा' में मध्यवर्गीय परिवार की आर्थिक समस्या को उभारा गया है। आशा के पिता पर ऑफिस के रुपये गबन करने का आरोप लगाया गया है। कोर्ट में केस चल रहा है। केस का खर्च तो मामा दे रहे हैं। घर की आर्थिक स्थिति दिन-प्रतिदिन बुरी होती जा रही है। माँ ने सास से कहा कि 'मांजी, मुन्नू को आप गांव लेती जाइए, वहाँ के स्कूल में डाल दीजिए। यहां तो अब उसकी फीस जुटाना भी भारी पड़ेगा।'[4] आर्थिक तंगी की वजह से नीचे के मकान को खाली कर दिया जाता है। खाना, पकाना, सोना सभी कुछ बरसाती में होने लगता है। इतना ही नहीं परिवार के अन्य सदस्य भी काफी मेहनत करके इस घर को संभालने का प्रयास करते हैं। बाबा किसी दुकान में हिसाब लिखने जाते हैं। अब वे पेंशन के पचास रुपये में से किसी तरह पन्द्रह रुपये भेज देते है। इस दौरान अम्मा के सारे गहने बिक जाते हैं। आर्थिक अभाव से अनेक समस्याओं को झेलते हुए आशा 'कभी-कभी सोचती, पप्पा को सस्पेण्ड हुए दो साल तीन महीने हुए, इतने दिनों में आखिर कितना खर्च हुआ कि बैंक का सारा रुपया निकल गया, अम्मा के सारे गहने बिक गये... और भी पता नहीं क्या-क्या चला गया। वकील लोग शायद बहुत लुटेरे होते हैं। कभी सोचती, इससे तो पप्पा सचमुच ही आफिस का रुपया मार लेते तो अच्छा था, कम-से-कम मुन्नू को तो अपने पास रख सकते, और एक पंखा भी रख लेते। इस उमस में तो चमड़ी जैसे उबली जाती है। ईमानदारी करके ही कौन बड़ा सुख मिल रहा है।[5] जब तक अदालत से फैसला मिलता है तब तक पूरा परिवार आर्थिक कष्टों को सहते हुए पूरी तरह टूट चुका है।

कमलेश्वर की कहानी 'राजा निरबंसिया' में पति-पत्नी के बीच संबंधों में आई दूरी का वर्णन है। जगपति रिश्तेदार के यहां विवाह में जाता है और दसवें दिन भी न लौटने पर उसकी पत्नी चन्दा उसे ढूंढती हुई अस्पताल जा पहुँचती है। चन्दा बीमार जगपति की सुरक्षा के लिए, अच्छी दवाईयों को पाने के लिए, पति को नयी जिन्दगी देने के लिए सोने का कड़ा बेचने की नौबत आ गई, परंतु वह अपना शरीर कम्पाउण्डर बचनसिंह को समर्पित कर देती है। जब जगपति को यह पता चलता है कि चंदा ने कड़ा नहीं बेचा है तो वह सोचने लगता है कि वह चन्दा से कड़ा मांगकर बेचकर कोई-न-कोई छोटा-मोटा कारोबार शुरू कर देगा। उधर इतने दिनों की गैरहाजिरी के बाद वकील साहब ने दूसरा मुहरिर रख लिया है। कम्पाउण्डर घर ढूंढते-ढूंढते जगपति के घर पहुँच जाता है। बचन सिंह का अपने घर आना-जाना देखकर भी जगपति चुप रहता है। उसके चुप रहने का कारण यह है कि वह बेकार है। वह कारोबार करना चाहता है और बचनसिंह कारोबार के लिए पूंजी देने के लिए तैयार है। बेकारी और आर्थिक तंगी की इस स्थिति में कहीं से पूँजा मिलना बहुत ही बड़ी बात है। बचन सिंह की सहायता से जगपति की काम-धाम की समस्या हल

हो जाती है। जगपति ने लकड़ी की टाल खोल ली है। धीरे-धीरे कारोबार बढ़ जाने पर बचनसिंह भी नौकरी छोड़कर उसी में लग जाता है। जगपति यह भली-भांति जानता है कि बचन सिंह यह पूंजी चन्दा के शरीर से ही वसूल करनेवाला है।

मोहन राकेश की कहानी 'मन्दी' पहाड़ी इलाके के लोगों की आर्थिक विपन्नता की समस्या है। यह किसी पहाड़ी शहर की कहानी है जहां के लोग बेकार हैं। वे सैलानियों की सीज़न, का इंतजार करते हैं। इस कहानी के सभी पात्र आर्थिक संकट झेल रहे हैं। ऐसे समय जब सीज़न नहीं आया है, एक यात्री को रास्ते में बूढ़ा नत्था सिंह के होटल का पता मिलता है। होटल पहुँचने पर यात्री देखता है कि बूढ़ा नत्था सिंह और उनके दोनों बेटे हलवाई के साथ ताश खेल रहे हैं। वहाँ उसके होटल में अण्डे की भी व्यवस्था नहीं है। यात्री के कहने पर होती है। नत्था सिंह यात्री से रात का खाना भी वहीं खाने का अनुरोध करता है। शाम को यात्री सैर से लौटते हुए अखबार पढ़ने के लिए एक बड़े से रेस्तरां में चला जाता है। वह वहां किसी को भी नहीं पाता है। पन्द्रह-बीस मिनट के बाद रेस्तराँ की देख-रेख करनेवाला आदमी आता है और कहता है कि माफ कीजिएगा, मैं एक बाबू का सामान मोटर के अड्डे तक छोड़ने चला गया था।[7] लौटते हुए वह नत्था सिंह के होटल से दो अण्ड लेने के लिए जाता है तब वह बोलता है कि उसने उस यात्री के लिए मुर्गा बनाया है। उसने सोचा कि वह रात को वहीं खाना खाने आयेगा और साथ ही दो एक प्लेट होटल में आनेवाले ग्राहक भी ले लेंगे। परन्तु किसी भी ग्राहक ने मुर्गा खाने की ख्वाहिश जाहिर नहीं की है। वह कहता है कि 'क्या पता था कि खुद खाना पड़ेगा। जिंदगी में ऐसे भी दिन देखने थे। वे भी दिन थे जब अपने लिए मुर्गे का शोरबा तक नहीं बचता था। और एक दिन यह है। भरी हुई पतीली सामने रखकर बैठे हैं। गांठ से साढ़े तीन रुपये लग गए, जो अब पेट में जाकर खनकते भी नहीं।[8] इस बीच वह बूढ़ा नत्थासिंह के होटल आकर एक चाय वसूल कर जाता है कि उसने एक ग्राहक को उसके होटल भेज दिया है। इस कहानी में लेखक ने ऐसे लोगों पर प्रकाश डाला है जो अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरों के लिए जीते हैं। वे लोग स्वयं से न जुड़कर यात्रियों से जुड़ते है। नत्थासिंह का मुर्गा बनाना, जो उस यात्री के लिए ही बनाया गया है। इसी प्रकार कोयलावाली स्त्री पैसे के लिए अपने छोटे भाई को यात्री के यहां छोड़ देना चाहती है। आर्थिक विपन्नता से बूढ़ा आदमी अपनी स्थिति को एक प्याली चाय की तलाश में झेलता है।

आर्थिक अभाव का रूप शेखर जोशी की कहानी 'बच्चे का सपना' में भी उद्घाटित है। यह एक मध्यवर्गीय व्यक्ति के आर्थिक अभाव की कहानी है। वह रोज शाम को काम के बाद रेलगाड़ी से लौटता है। एक दिन लौटते वक्त वह अपनी बच्ची के लिए उपहार लेकर आता है। इस यात्रा के दौरान वह अपनी मानसिक उलझनों में खोया रहता है। इसी उलझन में लीन होकर वह अपना बस्ता कहीं भूल आता है। पत्नी को जब इस विषय के बारे में बताता तब वह इस विषय को भूल जाने को कहती है। आर्थिक तंगी की वजह से वह कभी भी अपनी बच्ची के लिए कोई उपहार नहीं ला पाता है। वह सोचता है कि 'इस बेचारी के लिए आज मैं पहली बार टॉफी का डिब्बा लेकर चला था और आज ही...।[9]

आर्थिक अभाव मनुष्य से किस-किस प्रकार काम कराता है। कमलेश्वर की कहानी 'बयान' में इसका उल्लेख मिलता है। गलत व्यवस्था का शिकार व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है। वह व्यक्ति फोटोग्राफर है। असलियत को सही रूप में प्रकाश में लाने की वजह से उसे काम से निकाला जाता है। आम मध्यवर्गी की तरह इस व्यक्ति के पास अर्थोपार्जन का द्वारा माध्यम नहीं है। उसके घर की हालत लगातार खराब होती जा रही है। कहीं से भी कोई काम नहीं मिल रहा है। इस दौरान बच्चा का जन्म होता है। पत्नी को घर से निकलकर नौकरी करनी पड़ती है। गर्मियों की छुट्टियों में स्कूल से वेतन नहीं मिलता है। यानी स्कूलों से अध्यापकों को छुट्टियों में नौकरी से हटा दिया जाता है। इन दिनों घर की हालत बद से बदतर होती चली जाती है। व्यक्ति का विश्वास अपने काम पर से उठ जाता है। ऐसे हालात में और क्या मुमकिन है कि जिस कैमरे

और तस्वीरों पर उस व्यक्ति का भरोसा है, उसी ने उसकी जिन्दगी खराब कर दी है। उसे जीने के लिए कोई मार्ग नहीं सूझता है। ऐसी परिस्थिति में आर्थिक मज़बूरी की वजह से उसने अपनी ही पत्नी की अधनंगी तस्वीरें निकालकर एक पत्रिका में भेज दी। यह काम करते हुए वह कितना अधिक पीड़ित होता है और इस घटना के साथ ही एक ईमानदार फोटोग्राफर की मौत हो जाती है। इस तस्वीर की वजह से स्त्री को स्कूल की नौकरी से निकाल दिया जाता है। स्त्री पति की आत्महत्या के बाद न्यायालय के सामने बयान करती है कि 'मेरी वे अधनंगी तस्वीरें स्कूल के मैनेजर तक भी पहुंची थी। उन्होंने फौरन तय किया था कि इस तरह की औरत का स्कूल में रहना एक पल के लिए भी मुमकिन नहीं है।[10]

आर्थिक अभाव के कारण टूटते सबंधों का कमलेश्वर की कहानी 'इतने अच्छे दिन' के माध्यम से मनुष्य का हैवानियत भरा रूप दिखाया गया है। इस कहानी में इलाके में लगातार तीसरे साल भी अकाल पड़ जाने से लोग और ढोर-डंगर मर रहे हैं। बाला कोई भी काम न पाकर पेट की आग को बुझाने के लिए हड्डियों का व्यापारी बन जाता है। इस बात को लेखक इतने व्यंग्यात्मक ढंग से बताया है, 'अपने रिश्तेदारों की हड्डियां कितनी कीमती हैं। अपने रिश्तेदारों के ढोर डंगरों की हड्डियां कितनी कीमती हैं। हड्डियों के लिए तब महाभारत मचा था। लोग पहरा लगाने लगे थे– ये हमारे रिश्तेदारों की हड्डियां हैं... ये उनके ढोर-डंगरों की हड्डियां हैं। इन पर हमारा हक है।[11] यह कितनी व्यंग्यात्मक स्थिति है कि जीवित से अधिक मृतक और मृतकों के शव से अधिक उनकी हड्डियां अधिक मूल्यवान बन जाती हैं। बाला इन हड्डियों को एक चीनी मिल में शौरा निकालने के लिए सप्लाई करता है। उसे हड्डियों के रुपये मिल जाते हैं। इन हड्डियों की कीमत इतनी अधिक हो जाती है कि बाला सोचने लगता है कि कुत्ते और गिद्ध लाश की सफाई जल्दी नहीं करते हैं, इसलिए झुलसती-तपती धरती के नीचे दबा देने से शव जल्दी ही साफ हो जाएगा। रात के वक्त कोई और इन लाशों को खोद कर न ले जाये, इस उद्देश्य से बाला बहन कमली को पहरे पर लगाता है। कैसी विचित्र बात है कि मृतकों के पहरे पर एक जीवित मनुष्य है। वहीं से ड्राइवर बंतासिंह कमली को उछा कर ले जाता है। इस घटना के बाद कमली तन का पेशा करने लगती है। बाला कमली को ढूंढ लेता है और पैसे मिलने के कारण वह वर्तमान स्थिति से खुश है। बाला सोचता है कि 'कमली भी चार-पाँच रुपये बना लेती है। एक सवा रुपया बोरे-भर हड्डियों का मिल जाता है। छः रुपये रोजाना कौन कमाता है साला।[12] लेखक ने मनुष्य के हैवान रूप का दर्शन इस कहानी में कराया है। बाला के दादा-दादी भी मर जाते हैं। बाला बाप से कहता है कि लाशों को जलाने से क्या मिलेगा? उसका बाप क्रुद्ध होकर चिल्लाता है कि 'अरे कमीने। तू इनकी हड्डियां भी बेच खायेगा? ऐसी औलाद से तो निपूता ही मरता।[13] बाला दादी के पैर से चाँदी का छिल्ला नहीं निकालता और उसे श्रद्धापूर्वक नदी में सिराता है। कहानी मजबूरी में हैवानियत और इंसानियत का द्वन्द्व है।

कृष्ण बलदेव वैद की कहानी 'एक बदबूदार गली' में औरत को बेचकर पैसे के अभाव की पूर्ति करने की बात कही गई है। इस कहानी में लेखक ने एक बुढ़िया का जिक्र किया है जिसकी हवेली में देह का व्यापार होता है। वह गली भर में खुलेआम कह देती है कि 'जिस किसी को पैसे की तंगी हो, वह रात को थोड़ी देर के लिए, अपनी बहू या बेटी को उसके मकान में भेज दें। लोगों का ख्याल है, गली के कई बेगैरत मर्द-औरतें खुफिया तौर पर बुढ़िया के इस न्योते का फायदा उठाते रहते हैं। लोगों का यह मानना है कि गली के लोग इस व्यवस्था से अपनी आर्थिक तंगी को दूर करते हैं।[14]

आज हमारे सभी सामाजिक और पारिवारिक संबंध अर्थ के तराजू में तोले जाते हैं। मनुष्य अपने गरीब सगे-संबंधियों से आँखें चुराता है, उसे शक होता है कि वह पैसा न माँग ले। लेकिन दूर के किसी अमीर व्यक्ति से आत्मीय संबंध स्थापित करने के लिए बेताब होते हैं हालांकि हम इस बात से वाकिफ़ है कि उस व्यक्ति की कमाई सीधे रास्ते की कमाई नहीं है। हमारे निकट के संबंध पति-पत्नी, बहन-भाई, माता-पिता आदि संबंधों के बरकरार रहने के मूल में भी अर्थ तंत्र ही है। नये कहानीकार संबंधों में

आनेवाली आर्थिक विषमता, विवशता, विपन्नता आदि की स्थितियों को अपनी कहानियों के माध्यम से अत्यंत संवेदनशीलता से दर्शाते हैं।

संदर्भ

1. दोपहर का भोजन, अमरकांत प्रतिनिधि कहानियां- पृ. 101, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994। **2.** डिप्टी कलक्टरी- अमरकांत प्रतिनिधि कहानियां- पृ.7, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994। **3.** जिन्दगी और जोंक -अमरकांत प्रतिनिधि कहानियाँ पृ.62, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994। **4.** सज़ा-मन्नू भण्डारी, कथा यात्रा- पृ. 117, सं. राजेन्द्र यादव, राधाकृष्ण प्रकाशक, नयी दिल्ली, 1997, राजा निरबंसिया कमलेश्वर, मेरी प्रिय कहानियाँ पृ.11, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1995। **5.** वही पृ. 119। **6.** राजा निरबंसिया कमलेश्वर मेरी प्रिय कहानियाँ पृ.।।, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, 1995। **7.** मन्दी, मोहन राकेश मेरी प्रिय कहानियाँ पृ. 48, राजपाल एन्ड सन्ज़, दिल्ली, 1992। **8.** वही - पृ.51। **9.** बच्चे का सपना-शेखर जोशी-प्रतिनिधि कहानियाँ-पृ 73, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994। **10.** बयान-कमलेश्वर-मेरी प्रिय कहानियाँ, पृ. 65, मेरी प्रिय कहानियाँ, राजपाल एन्ड सन्ज़, दिल्ली, 1989। **11.** इतने अच्छे दिन कमलेश्वर- इतने अच्छे दिन, पृ. 14, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, 1989। **12.** वही-पृ. 12। **13.** वही- पृ.14। **14.** एक बदबूदार गली, कृष्ण बलदेव वैद- प्रतिनिधि कहानियाँ पृ.37, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990।

❏❏

Dr. Sindhu G Nair
Manoj Bhavan (PBRA-1)
Broadway, Perumbavoor (P.O)
Ernakulam (Dist.)
Kerala-683542
Mob-9495382602

❖ कोई भी लोहे को नष्ट नहीं कर सकता, लेकिन इसकी खुद की जंग इसे नष्ट कर देती है! इसी तरह एक व्यक्ति को कोई भी नष्ट नहीं कर सकता है, लेकिन खुद की मानसिकता उसे नष्ट कर सकती है।

❖ अगर आप तेज चलना चाहते हैं, तो अकेले चलिए। लेकिन अगर आप दूर तक जाना चाहते हैं, तो साथ-साथ चलें।

❖ जीवन में आगे बढ़ने के लिए उतार-चढ़ाव बहुत महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि ईसीजी में एक सीधी रेखा का मतलब है कि हम जीवित नहीं हैं।

❖ जिस दिन मैं उड़ान भरने में सक्षम नहीं हूं, वह मेरे लिए एक दुखद दिन होगा।

❖ अगर लोग आप पर पत्थर मारते हैं तो उन पत्थरों का उपयोग अपना महल बनाने में कर लें।

❖ मैं हमेशा से भारत के भविष्य की संभावनाओं के बारे में बहुत आश्वस्त और बहुत उत्साहित रहा हूं। मुझे लगता है कि यह महान क्षमता वाला एक महान देश है।

–रतन टाटा

शृंखला की कड़ियां : स्त्री अस्मिता की अभिव्यक्ति

डॉ. ब्रह्मदत्त शर्मा

हिन्दी नवजागरण की महत्वपूर्ण लेखिका, कवयित्री, समाज सेविका, सशक्त वक्ता, संपादिका, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक कृतियों से मानवीय दृष्टिकोण को प्रज्वलित करने वाली चित्रकार महादेवी वर्मा की पुस्तक 'शृंखला की कड़ियां' स्त्री अस्मिता को अभिव्यक्त करने में मील का पत्थर सिद्ध हुई। विरह और वेदना की रहस्यमयी कविताएँ लिखने वाली महादेवी ने अपनी इस पुस्तक में गद्य का इतना सुंदर रूप साहित्य जगत में रखा, जिसे सदियों तक पढ़ा और गुना जाएगा। स्त्री-समाज के लिए अपनी चिंता व्यक्तकर महादेवी वर्मा एक प्रकार से पुरुष वर्चस्ववादी समाज को चुनौती भी देती हैं।

स्त्री अस्मिता को अभिव्यक्ति देने में उनके द्वारा संपादित 'चाँद' पत्रिका एक क्रांतिकारी पत्रिका मानी जाती है। प्रो. गरिमा श्रीवास्तव के अनुसार 'स्त्री धर्म' और 'चाँद' सरीखी पत्रिकाओं में स्वाधीनता आंदोलन में स्त्रियों को भागीदारी के लिए प्रेरित किया गया और 'चाँद' में तो स्त्री को बौद्धिक चेतना संपन्न व्यक्ति मानकर पुरुषों के समकक्ष रखकर देखने की वकालत भी की गयी।[1] 'चाँद' पत्रिका में स्त्री समस्या पर आधारित अंकों को भी समय-समय पर निकाला जाता था। 'चाँद' (1923) मासिक पत्रिका का 'मारवाड़ी' अंक अपने समय में बहुत लोकप्रिय रहा था। स्त्री-जीवन की समस्याएं इसके केंद्र में रहती थी। 'चाँद' पत्रिका साहित्यिक होते हुए भी समाज सुधार के विषयों को तटस्थता के साथ रखने में सफल रही थी इसका प्रमाण हमें इसके 'फांसी' अंक में मिलता है। बकौर गरिमा श्रीवास्तव 'चांद' पत्रिका सामाजिक जीवन में स्त्रियों की भागीदारी सुनिश्चित करने का प्रयास कर रही थी।[2] हालांकि औपनिवेशिक भारत में प्रकाशित होने वाली स्त्री केंद्रित पत्रिकाओं में 'उच्च एवं मध्यवर्ग की स्त्रियों की भागीदारी ही अधिक थी, कहीं भी ये पत्रिकाएं हाशिये की स्त्रियों के अधिकारों और उनकी अन्तश्चेतना के विस्तार की चर्चा करती नहीं दिखती।' देखा जाए तो हाशिये की स्त्रियों के अधिकारों का विस्तार आज भी उस रूप नहीं हो पा रहा है, जिस रूप में होना चाहिए। परंतु जहाँ तक महादेवी की स्त्री-चेतना की बात है, तो महादेवी वर्मा ने भारतीय समाज में स्त्री अस्मिता के प्रश्न सीमोन द बउआर से भी बहुत पहले सन् 1942 में ही 'शृंखला की कड़ियां के माध्यम से उठाये थे। सीमोन की रचना 'The Second Sex' (अनु. 'स्त्री उपेक्षिता', प्रभा खेतान) सन् 1949 ईसवी में प्रकाशित हुई और महादेवी वर्मा ने सन् 1942 ईसवी में ही स्त्री चिंतन पर आधारित महत्वपूर्ण पुस्तक 'शृंखला की कड़ियां' को लिखने का बीड़ा उठाया था। यह पुस्तक एक प्रकार से स्त्री-अधिकारों का दस्तावेज़ है। इसका प्रमाण महादेवी वर्मा के इस कथन से ही मिलने लगता है, जब वह कहती हैं कि 'भारतीय नारी भी जिस दिन अपने संपूर्ण प्राणप्रवेग से जाग सके उस दिन उसकी गति रोकना किसी के लिए संभव नहीं। उसके अधिकारों के संबंध में यह सत्य है कि वे भिक्षावृत्ति से न मिले हैं, न मिलेंगे,

क्योंकि उनकी स्थिति आदान-प्रदान योग्य वस्तुओं से भिन्न है।'[4]

जिस समय और समाज में महादेवी वर्मा यह बात कह रही थी, वह समय स्त्रियों के हक की बात करने के अनुकूल तो कदापि नहीं था। ऐसे में उन्हें कितनी चुनौतियों और अपमान का सामना करना पड़ा होगा; इसका अनुमान वर्तमान समय में लगाना कठिन है। महादेवी वर्मा ने स्वयं अपने जीवन में भी उन्हीं सिद्धांतों एवं विचारों का अनुपालन किया, जो उन्होंने अपने लेखन के माध्यम से समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। उनमें निहित यह शक्ति कहीं न कहीं उनके अपने जीवनानुभवों का ही परिणाम कहा जाना चाहिए। छायावाद के प्रमुख शीर्ष चार कवियों में एक नाम महादेवी वर्मा का होना भी उनके नारी सशक्तिकरण की छवि को प्रस्तुत करता है। हालांकि यह बात अलग है कि मध्यकाल की भक्त कवयित्री मीरा की ही तरह उन्हें भी इस क्रम में सबसे निचले पायदान पर रखा गया। इसे एक साहित्यिक षड्यंत्र माना जाना चाहिए, विशेषकर स्त्री रचनाकारों के प्रति, फिर भी महादेवी वर्मा की एक विशिष्ट छवि बन चुकी थी। बतौर अनामिका 'महादेवी वर्मा छायावादी कविता की इकलौती बेटी हैं, सात भाइयों वाली चम्पा की तरह अकेली, गंभीर और मातृमना।'[5]

छायावाद एवं रहस्यवाद की काव्यधारा से निकलकर महादेवी वर्मा उस समय यथार्थ के धरातल पर उतरती हैं, जब वह 'शृंखला की कड़ियां' जैसी महत्वपूर्ण पुस्तक हिन्दी जगत में लेकर आती हैं। यह केवल एक पुस्तक नहीं है, वरन स्त्री-अधिकारों के लिए लिखे गये दस्तावेज हैं जिनके भीतर प्रवेश करते ही शृंखला की एक-एक कर कड़ियां टूटती नजर आती हैं। पितृसत्तात्मक समाज की बेड़ियों में जकड़ी हुई स्त्रियों का जीवन कैसे मुक्त हो, इसके अनेक उपाय महादेवी वर्मा इस पुस्तक मैं सुझाती हैं। जैसे कि स्त्रियों का उच्च शिक्षित होना इत्यादि। सन् 1942 ईसवी में 'शृंखला की कड़ियां' जैसी पुस्तक की रचना करना किसी दुस्साहस से कम नहीं रहा होगा और महादेवी वर्मा उस समय यह दुस्साहस करती हैं। एक सामाजिक कार्यकर्ता होने के अतिरिक्त महादेवी वर्मा का परिचय राजनीति के गलियारों से भी रहा। एक सशक्त वक्ता और स्त्री जाति की पुरोधा के रूप में महादेवी वर्मा की जो पहचान और योगदान है, वह बीसवीं सदी में शायद ही किसी और स्त्री रचनाकार की रही होगी। वैसे भी इतिहास में 20वीं सदी का दौर कई कारणों से बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है इस सदी में कई स्त्री-आंदोलन हुए।

राधा कुमार के अनुसार 'उन्नीसवीं सदी को स्त्रियों की शताब्दी कहना बेहतर होगा, क्योंकि इस सदी में सारी दुनियां में उनकी अच्छाई-बुराई, प्रकृति, क्षमताएं एवं उर्वरा गर्मागर्म बहस का विषय थे। यूरोप में फ्रांसीसी क्रांति के दौरान और उसके बाद स्त्री जागरूकता का विस्तार होना शुरू हुआ और शताब्दी के अंत तक इंग्लैंड, फ्रांस तथा जर्मनी के बुद्धिजीवियों ने नारीवादी विचारों को अभिव्यक्ति दी।[6]

भारत में नारी शक्ति एवं उनकी क्षमताओं की पहचान, देखा जाए तो यह पश्चिम से बहुत पहले ही हो चुकी थी। यहां तक कि स्त्री-विमर्श की परंपरा भी हमारे यहां पश्चिम से पहले ही दिखलाई पड़ती है। इस संदर्भ में 'थेरी' गाथाओं को देख सकते हैं। जिनमें सर्वप्रथम स्त्री अस्मिता और स्त्री-विमर्श के प्रमाण मिलते हैं। इनकी संख्या 500 से अधिक है इन गाथाओं में सैकड़ों थेरियों के उद्‌गार मिलते हैं। इन गाथाओं में ईसवी पू. छठी शताब्दी की कविता का एक ऐतिहासिक रूप भी हम देख सकते हैं। इन थेरी गाथाओं में भिक्षुणियों का अपना आत्म है, जिसे उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से प्रकट किया है। इस संदर्भ में सुमंगलमाता नामक भिक्षुणी का यह उद्‌गार देख सकते हैं– *सुमुत्तिका सुमुत्तिका साधुमुत्तिकाम्ही मुरुनस्स।*

अहिरिको में छत्तकं वा पि उक्खलिका में देडडुभं वा ति सस[7] अर्थात् 'अहो! मैं मुक्त नारी। मेरी मुक्ति कितनी धन्य है। पहले मैं मूसल लेकर धान कूटा करती थी, आज उससे मुक्त हुई। मेरी दरिद्रावस्था के वे छोटे-छोटे (खाना पकाने के) बर्तन जिनके बीच में मैं मैली-कुचैली बैठती थी, और मेरा निर्लज्ज पति मुझे उन छातों से भी तुच्छ समझता था, जिन्हें वह अपनी जीविका के लिए बनाता था।[8]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण भारतीय साहित्य एवं समाज

में स्त्रियों की दशा और दिशा दोनों पर प्रकाश डालता है। इस कथन से स्त्री का अतीत और उसका भविष्य दोनों का पता मिलता है, इतिहास के नए पन्ने खुलते हैं। महादेवी वर्मा की पुस्तक 'शृंखला की कड़ियां' इसी इतिहास से हमारा परिचय कराती हैं, जब वह कहती हैं कि 'प्राचीन आर्य नारी के सहधर्मचारिणी तथा सहभागिनी के रूप में कहीं भी पुरुष का अंधानुसरण या अपने आपको छाया बना लेने का आभास नहीं मिलता' महादेवी वर्मा के उक्त कथन से प्राचीन काल में स्त्रियों की सम्माननीय स्थिति का परिचय मिलता है। हमें ज्ञात होना चाहिए कि वैदिक काल में स्त्रियों का बहुत अधिक सम्मान था। उन्हें प्रत्येक शुभ कार्य में आमंत्रित किया जाता था, यहां तक कि बिना उनके प्रवेश के कोई भी शुभ कार्य आरंभ नहीं किए जाते थे। परंतु उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की दशा में उस समय परिवर्तन आने लगा जब शासन एवं सत्ता की बागडोर केवल पुरुषों के हाथों में आने लगी। प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष वर्चस्व कायम होते ही स्त्रियों के सम्मान में भारी गिरावट आयी। अब गृहस्थ जीवन के निर्णय लेने से लेकर गृहस्थ के बाहर के भी सभी निर्णय पुरुष ही लेने लगे थे। जिससे स्त्री की स्थिति न केवल दोयम दर्जे की हो गयी वरन् वह दोहरे शोषण की भी शिकार हुई। इस संदर्भ में महादेवी का निम्नलिखित कथन बहुत महत्वपूर्ण लगता है; जब वह कहती हैं कि 'स्त्री को अपने अस्तित्व को पुरुष की छाया बना देना चाहिए, अपने व्यक्तित्व को उसमें समाहित कर देना चाहिए, इस विचार का पहले कब आरंभ हुआ, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, परंतु इसमें संदेह नहीं कि यह किसी आपत्तिपूर्ण विषवृक्ष का ही विषमय फल रहा होगा।[9] स्पष्ट है कि यह 'विष-वृक्ष' वह पितृसतात्मक समाज है जिसकी ओर महादेवी वर्मा संकेत करती हैं। यानी स्त्रियों को महापुरुषों एवं पुरुषों की छाया बनना चाहिए, पुरुष के हर उचित-अनुचित कार्य में स्त्री को उसकी संगिनी बनकर साथ खड़े रहना चाहिए; यह सीख हमें हमारा समाज तभी से ही देता आया है। जबकि अकेली स्त्री भी पुरुष के सहयोग के बिना, उसकी छाया बने बिना अपने जीवन कर्तव्य को बखूबी निभा सकती है और निभाती है इसका प्रमाण हमें यशोधरा के संदर्भ में भी मिलता है। इस संदर्भ में महादेवी वर्मा लिखती हैं, 'महापुरुषों की छाया में रहनेवाले कितने ही सुंदर व्यक्तित्व कांति-हीन होकर अस्तित्व खो चुके हैं, परंतु उपेक्षिता यशोधरा आज भी स्वयं जीकर बुद्ध के विरागमय शुष्क जीवन को सरस बनाती रहती है।[10] उपर्युक्त पंक्तियों के माध्यम से महादेवी वर्मा ने केवल यशोधरा के महत्त्व को ही नहीं दर्शाया है, अपितु संपूर्ण स्त्री जाति के स्वाभिमानी और स्वावलंबी चरित्र को उकेरने की चेष्टा की है।

महादेवी वर्मा यहीं नहीं ठहरतीं बल्कि इससे भी आगे वह उन शिक्षाविदों पर भी प्रश्न चिह्न लगाती हैं, जो स्त्रियों को आत्मनिर्भर बनना न सिखाते हैं। उन्हें अपने भविष्य को सुखी कैसे बनाया जाए इस बात का ज्ञान न देते हैं। जबकि शिक्षित होकर ही स्त्रियों का भविष्य बेहतर हो सकता है। महादेवी वर्मा लिखती हैं 'जीने के लिए ही शिक्षा की आवश्यकता है, परंतु जो व्यक्ति जीना ही नहीं जानता उससे न संसार को कुछ लाभ हो सकता है और न वह शिक्षा का कोई सदुपयोग ही कर पाता है।

स्त्री-पुरुष का सामंजस्य एकहरा न होकर दोहरा होना चाहिए अर्थात् गृहस्थ जीवन से लेकर प्रेम प्रसंग में भी दोनों में समानता का भाव स्थापित होना आवश्यक है। लियो तोलस्तोय ने 'स्त्री और पुरुष' नामक पुस्तक में लिखा है कि 'स्त्री और पुरुष का वह मेल अच्छा है जिसका उद्देश्य परमात्मा की और मनुष्य जाति की सेवा है।'[11] परंतु यहाँ तो पति भी पुरुष और परमात्मा भी पुरुष है। ऐसे में मेल कैसे समानता का हो। जबकि 'स्त्री का मानसिक विकास पुरुषों के मानसिक विकास से भिन्न परंतु अधिक द्रुत, स्वभाव अधिक कोमल और प्रेम-घृणादिभाव अधिक तीव्र तथा स्थायी होते हैं। इन्हीं विशेषताओं के अनुसार उसका व्यक्तित्व विकास पाकर समय के उन अभावों की पूर्ति करता रहता है जिनकी पूर्ति पुरुष स्वभाव द्वारा संभव नहीं। इन दोनों प्रकृतियाँ में उतना ही अंतर है जितना विद्युत और झड़ी में।[12]

स्त्री-पुरुष की प्रकृति में जिस अंतर की बात महादेवी वर्मा करती हैं, यह बात हमें सीमोन द बउआर की पुस्तक The Second Sex ('स्त्री उपेक्षिता') में भी मिलती है। सीमीन ने इस पुस्तक में स्त्री-पुरुष से संबंधित उन सभी

विषयों को रेखांकित किया है, जो तत्कालीन समय और समाज में प्रचलित थे। यहाँ तक कि स्त्री के प्रति अलग-अलग समुदायों एवं धर्मों में जो मान्यताएं थी, उनका भी बहुत प्रामाणिक विश्लेषण किया है। सीमोन इस पुस्तक में स्त्री-संबंधी सभी कानूनों की पड़ताल करती हैं। वह लिखती हैं कि किस प्रकार सामंती व्यवस्था खत्म हो जाने के बाद भी जो कानून बने उनका उद्देश्य था कि स्त्री को पुरुष के समान अधिकार न मिल पाये और वह सभी नागरिक अधिकारों से वंचित रहे। यदि स्त्री अविवाहित है, तो पिता के संरक्षण में रहे या फिर उसे धार्मिक मठों में भेज दिया जाए और यदि विवाहित है, तो वह अपनी संपत्ति और संतान के साथ पूरी तरह से पति के अधीन रहे। सीमोन द बउआर के अनुसार संत थॉमस अपनी परम्परा के प्रति बहुत ईमानदार थे, जिस कारण उन्होंने कहा है कि 'यह औरत की नियति है कि वह पुरुष की अधीनता में रहे, इसे परिवर्तित नहीं किया जा सकता, उसको प्रभु से कोई सत्ता नहीं मिली।[13] इसी संदर्भ में एक अन्य स्थान पर सीमोन ने संत पॉल के मत को उजागर किया है कि संत पॉल ने स्त्री से आत्म-विलोपन और विवेकवान होने की अपेक्षा की। उन्होंने कहा कि, 'पुरुष औरत के लिये नहीं बना है, औरत बनी है पुरुष के लिये। जैसे चर्च के स्वामी यीशू हैं, वैसे ही स्त्री का स्वामी पुरुष है।[14]

उपर्युक्त कथन से स्त्री के अस्तित्व को सीधे-सीधे नकारने का बोध होता है। अर्थात स्त्री की अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता, उसकी अपनी कोई पहचान (अस्मिता) है ही नहीं, उसकी पहचान बस इतनी है कि यह किसी की पुत्री है, किसी की माता है और किसी की पत्नी है। उपर्युक्त मतों से इस बात का प्रमाण मिलता है कि स्त्री को पराधीन बनाये रखने की परंपरा केवल भारतीय समाज में ही नहीं रही है, वरन रोमन समाज से लेकर ईसाई धर्म में भी रही है अर्थात लगभग वैश्विक है। स्त्री को शैतान का दरवाजा, शैतान की खाला कहने से लेकर नरक का द्वार तक माना गया है। टर्टयूलियन लिखते हैं कि औरत तुम शैतान का दरवाजा हो। जहाँ शैतान सीधा आक्रमण करने से हिचकता है, वहां वह औरत का सहारा लेकर पुरुष को मिट्टी में मिला देता है। वह औरत की गलती थी, जिससे प्रभु के पुत्र को मरना पड़ा। तुम औरतों को हमेशा शोक संतप्त रहना होगा।[15] टर्टयूलियन का यह कथन संपूर्ण स्त्री-समाज का अपमान है। स्त्री की छवि को यहाँ जिस रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है, यह सामंती समाज और संकुचित मानसिकता का ही परिणाम है, ऐसी मानसिकता के साथ स्त्री की दुर्गति होना तय है।

महादेवी वर्मा भी लिखती हैं कि वे (स्त्रियाँ) शून्य के समान पुरुष की इकाई के साथ सबकुछ हैं, परंतु उससे रहित कुछ नहीं। उनके जीवन के कितने अभिशाप इसी बंधन से उत्पन्न हुए हैं, इसे कौन नहीं जानता। इससे भी आगे महादेवी वर्मा ने स्त्रियों की दुर्दशा का कारण स्त्रियों को चहारदीवारी के भीतर सीमित कर दिए जाने को माना है। वह कहती हैं कि 'पुरुष ने उसे गृह में प्रतिष्ठित कर वनवासिनी की जड़ता सिखाने का जो प्रयत्न किया है उसकी साधना के लिए वन ही उपयुक्त होगा।[17]

महादेवी वर्मा ने स्त्रियों के लिए शिक्षित होना आवश्यक माना है। स्त्रियों को उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अपनी पकड़ बनाने की आवश्यकता है। महादेवी वर्मा उस शिक्षा व्यवस्था की भी आलोचना करती हैं, जिनमें स्त्रियों को केवल अक्षर ज्ञान और गृह विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। स्त्रियों को कौन से गृह काज आने चाहिए, शिशुओं का कैसे पालन-पोषण किया जाना चाहिए, पति की सेवा और घर में उनका स्थान क्या होना चाहिए इत्यादि, स्त्रियों की शिक्षा का दायरा इन बातों तक ही सीमित रहा था। वह इस बात से अपनी असहमति जताते हुए लिखती हैं कि 'हमारे यहाँ विद्यार्थिनियां प्राथमिक शिक्षा के उपरांत ही अध्ययन का अंत कर देती हैं, कुछ माध्यमिक के उपरान्त, जिन्हें प्राथमिक शिक्षा देने का हम गर्व करते हैं, ऐसे शिक्षकों द्वारा शिक्षा मिलती है जो उन्हें जीवन के उपयोगी सिद्धांतों से भी अनभिज्ञ रहने देते हैं।[18]

महादेवी वर्मा यहीं नहीं ठहरती बल्कि इससे भी आगे वह उन शिक्षाविदों पर भी प्रश्न चिह्न लगाती हैं, जो स्त्रियों को आत्मनिर्भर बनाना न सिखाते है, उन्हें अपने भविष्य को सुखी कैसे बनाया जाए इस बात का

ज्ञान न देते हैं। जबकि शिक्षित होकर ही स्त्रियों का भविष्य बेहतर हो सकता है। महादेवी वर्मा लिखती हैं जीने के लिए ही शिक्षा की आवश्यकता है, परंतु जो व्यक्ति जीना ही नहीं जानता उससे न संसार को कुछ लाभ हो सकता है और न वह शिक्षा का कोई सदुपयोग ही कर पाता है।[19] स्पष्ट है कि महादेवी वर्मा यहाँ उन शिक्षकों से भी अपनी असहमति दर्ज कराती हैं, जो न तो सही ज्ञान प्रदान कर सकते हैं और न ही स्वयं पढ़ना-लिखना चाहते हैं। महादेवी के अनुसार पढ़ी-लिखी महिलाओं की संख्या बहुत कम है और जो है भी, उनमें भारतीय संस्कृति के अनुसार शिक्षिकाएं बहुत कम हैं। वैसे देखा जाए तो स्त्रियों की स्थिति वैदिक काल में अधिक मजबूत एवं सम्मानजनक रही है। इस काल में पितृसत्ता नहीं बल्कि मातृसत्ता थी। स्त्रियों का समाज में हर कहीं मान-सम्मान था। प्रत्येक शुभ कार्य में स्त्री का प्रवेश अनिवार्य माना जाता था। इस संदर्भ में महादेवी वर्मा लिखती हैं- उस समय जाति की विधात्री होने के कारण स्त्री आवश्यक और आदरणीय तो थी ही, साथ ही, उसके जीवनचर्या संबंधी नियम भी अधिक कठोर नहीं बनाये जा सके। वह मत्स्योदरी होकर भी राजरानी के पद पर प्रतिष्ठित हो सकती थी, कुंती होकर भी मातृत्व की गरिमा से गुरु रह सकती थी और द्रौपदी होकर भी पतिव्रता के आसन से नहीं हटाई जा सकती थी।[20]

परंतु उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की दशा धीरे-धीरे दयनीय होती गयी। समाज में उनकी प्रतिष्ठा में भी धीरे-धीरे कमी आने लगी। उनके अधिकार भी उनसे एक-एक करके छीने जाने लगे। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण जैसे ही स्त्री की सामाजिक उपयोगिता एवं प्रतिष्ठा घटने लगी वैसे ही पुरुष, व्यक्तिगत अधिकार भावना से उसे घेरता गया। इस प्रसंग में महादेवी वर्मा लिखती हैं कि 'अंत में यह स्थिति ऐसी पराकाष्ठ को पहुँच गई जहाँ व्यक्तिगत अधिकार-भावना ने स्त्री के सामाजिक महत्त्व को अपनी छाया से ढक लिया, एक बार पुरुष के अधिकार की परिधि में पैर रख देने के पश्चात् जीवन में तो क्या, मृत्यु में भी यह स्वतंत्र नहीं। 'महादेवी की यह चिंता वास्तव में संपूर्ण स्त्री जाति की चिंता है। केवल महादेवी वर्मा ही नहीं मध्यकाल में गोस्वामी तुलसीदास ने भी स्त्रियों की पराधीनता को लेकर चिंता व्यक्त की है कत विधि सृजि नारी जग माही, पराधीन सपनेहु सुख नाही। दरअसल महादेवी वर्मा स्त्रियों की दयनीय अवस्था के लिए विवाह संस्था और रीति-रिवाजों को भी एक हद तक दोषी मानती हैं। उनका प्रश्न है कि हमारे समाज में स्त्रियाँ कब तक केवल एक रमणी अथवा भार्या बनकर स्वयं को संतुष्ट रख सकेंगी। महादेवी लिखती हैं 'विवाह मनुष्य जाति की असभ्यता की सबसे प्राचीन प्रथा है और सभ्यता का भी हमारे समाज के पुरुष के विवेकहीन जीवन का संजीव चिह्न देखना हो तो विवाह के समय गुलाब-सी खिली हुई स्वस्थ बालिका को पांच वर्ष बाद देखिये। उस समय कौन-सी रुला देनेवाली करुणा न मिलेगी।[21]

उपर्युक्त कथन को महादेवी वर्मा की क्रांतिकारी विचारधाराओं एवं उनके अनुभवों का ही हिस्सा कहा जाना चाहिए। सामाजिक कार्यकर्ता एवं राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय रहने के कारण उनके जीवनानुभवों का दायरा भी बहुत विस्तृत रहा होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। महादेवी वर्मा का वैवाहिक जीवन भी सफल नहीं हो पाया था। स्वयं के जीवन के इस कड़वे अनुभव ने भी महादेवी वर्मा को बहुत कुछ अलग सोचने पर अवश्य विवश किया होगा। वह स्वयं के वैवाहिक जीवन के बारे में कहती हैं कि 'अविवाहित वैवाहिक जीवन है।' (संदर्भित कथन डी.डी. आर्काइव्स की चर्चा से।)[22]

महादेवी वर्मा के संबंध में यह कहा जाता है कि उन्हें भी अपने पति से उपेक्षा मिली, जिसके उपरांत वह बौद्ध धर्म की और आकृष्ट हुई परंतु बौद्ध धर्म से भी शीघ्र ही उनका मोहभंग हो गया था। अनामिका जी के अनुसार 'उनके (महादेवी) निजी जीवन के बारे में तो बस अटकलें ही लगायी जाती रही हैं। पर सार्वजनिक जीवन में उनके जग जाहिर मनचीते पुरुष हैं : बुद्ध और गाँधी, जो कहीं से भी सोचो' अतिपुरुष नहीं।[23] एक अटकल तो यह भी लगायी जाती है कि महादेवी का बौद्ध धर्म से भी मोहभंग हो चुका था, क्योंकि बौद्ध धर्म में भी स्त्री से परहेज़ किये जाने की बात कही गयी है। इसमें भी स्त्री को पुरुष के विकास मार्ग में बाधक माना गया है। उदाहरण के रूप में हम 'यशोधरा' की पंक्तियां

देख सकते हैं, मैथिलीशरण गुप्त ने यशोधरा से कहलवाया है कि *सखि! यदि वे मुझसे कहकर जाते, कहते तो क्या पथ बाधा ही पाते।*

इसका प्रमाण हमें जातक कथाओं में भी मिलता है, जिसमें भिन्न-भिन्न कथाओं के माध्यम से स्त्री-पुरुष के संबंधों एवं उसके लाभ-हानि को बताने की चेष्टा की गई है। जातक कथाओं में एक कथा का शीर्षक है 'स्त्री का आकर्षण'। इस कथा में एक राजा, एक नटी, एक तपस्वी एवं एक राजकुमार की कहानी है। इसमें एक वर्णन आता है जब तपस्वी नटी के प्रति आकर्षित होकर अपना नियंत्रण खोने लगता है। परंतु उसी समय राजकुमार वहां आ जाता है और उसे आता देख तपस्वी भाग खड़ा होता है परंतु उसकी सिद्धि नष्ट होने के कारण वह समुद्र में गिर जाता है जिसे बाद में राजकुमार बचा लेता है। उस समय राजकुमार (जिसे स्त्रियों का सान्निध्य पसंद नहीं था।) तपस्वी को जो उपदेश देता है वह समझने योग्य है, 'औरत पुरुषों को ठगने वाली महामाया होती हैं। औरत ब्रह्मचर्य को भी डिगा देती हैं। उसके सारे जन्मों का पुण्य नष्ट कर देती हैं। यह पुरुष से संबंध बना उसके पुरुषत्व को ठीक उसी प्रकार जला डालती हैं जैसे अग्नि अपने जलने वाले स्थान को जला देती है। इस कथा के माध्यम से स्त्री को कामुक और छली रूप में दिखाने की चेष्टा की है। यानी केवल रोमन समाज एवं ईसाई धर्म में ही स्त्रियों को नरक का द्वार नहीं कहा गया वरन् भारतीय प्राचीन काल से लेकर बौद्ध धर्म तक में भी स्त्रियों को माया और ठगिनी के रूप में चित्रित किया गया है। इसके प्रमाण हमें कबीर की वाणी में भी मिलते है; जब वह कहते हैं कि माया महाठगिनी हम जानी। कबीरदास तो इससे भी आगे कहते हैं कि तन की झाई परत, अंधा होत भुजंग, उन लोगन का कौन हवाल जो नित नारी के संग। हालांकि कोई अपने तर्क में यह कह सकता है कि कबीर ने यह उक्ति परकीया नारी के लिए कही है और दूसरे, उक्त कथन में माया का अर्थ धन से है, परंतु पहला अर्थ तो नारी से ही है न! नारी चाहे स्वकीया हो अथवा परकिया, नारी की परकिया स्थिति के लिए भी क्या हमारा समाज उत्तरदायी नहीं है? समस्या यह है कि हमारे समाज में पुरुष को बहुत सभ्य और संयमी स्थापित करने एवं स्त्री को चरित्रहीन, ठगिनी और नरक का द्वार सिद्ध करने की चेष्टा की गई है, चाहे कोई भी धर्मग्रंथ उठाकर देख लिया जाए। अब कुछ लोगों का तर्क हो सकता है कि तुलसीदास ने सीता का चरित्र कितना सम्मानजनक दिखाया है, परंतु तुलसीदास स्वयं स्त्री की स्वतंत्रता से डर जाते हैं– जिमि स्वतंत्र होहि बिगरहिं नारी। यानि एक तरफ तो आपको स्त्री की पराधीनता से दुःख होता है वहीं दूसरी तरफ आपको स्त्री के स्वतंत्र हो जाने से डर लगता है। हालांकि इस कधन का विश्लेषण किया जाना चाहिए कि तुलसीदास को स्त्री के स्वतंत्र हो जाने पर उनके बिगड़ने का जो भय है, वह कौन सा भय है और उनकी दृष्टि में यह बिगड़ना भी किस प्रकार का बिगड़ना है। तुलसीदास तो स्पष्ट कहते हैं कि स्त्री ताड़ना की 'अधिकारी' है– ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी। हालांकि इस पंक्ति का अनर्थ करने वाले धुरंधर हैं। कुल मिलाकर निष्कर्ष यहीं निकलता है कि स्त्री को दोयम दर्जे का समझा जाता रहा और वर्तमान में भी स्थितियां बहुत अच्छी नहीं समझी जायेंगी। अभी भी स्त्री को समानता का वह अधिकार नहीं मिल पाया है, जिसकी वकालत हमारा संविधान करता है। स्त्रियों को कहने के लिए भले ही आरक्षण मिल गया है, परंतु घर में और कार्य क्षेत्र में आज भी उसकी स्थिति चिंताजनक है। 'सन् 1956 में लागू 'हिन्दू कोड बिल' तथा भारतीय संविधान की धारा 15 तथा 16 ने हालांकि कानूनी एवं सवैधानिक तौर पर भारतीय स्त्री के मानवीय एवं मौलिक अधिकारों की रक्षा का दायित्व लिया है। परंतु वस्तुस्थिति क्या है; इससे कोई अनभिज्ञ नहीं, आज भी स्त्री मात्र एक 'ऑब्जेक्ट' समझी जाती है। अच्छी बात यह है कि अब स्त्रियां अपनी बातों को खुलकर कहने का साहस करने लगी हैं। हालांकि ऐसी संख्या अभी भी कम है जो अपनी बात को निडर होकर कह सकें। जो स्त्रियां बेबाक होकर अपनी बातें कहती हैं अथवा अधिक प्रगतिशील एवं मुखर होती हैं ऐसी स्त्रियों से पुरुष समाज डरता है। आधुनिक शिक्षा प्राप्त स्त्रियों के प्रति समाज की जो धारणा है, इस संदर्भ में महादेवी वर्मा लिखती हैं 'आधुनिक शिक्षा प्राप्त स्त्रियां अच्छी गृहिणियां नहीं बन सकती; यह प्रचलित धारणा

पुरुष के दृष्टिबिन्दु से देखकर ही बनाई गई है, स्त्री की कठिनाई को नहीं।

उपर्युक्त कथन आज भी प्रासंगिक है। आज भी अमूमन लोगों की यही धारणा है कि अधिक पढ़ी-लिखी स्त्रियां गृहस्थ जीवन संभालने में असफल होती हैं। परंतु अनेक ऐसे उदाहरण हमारे समाज में देखने को मिल जायेंगे, जहाँ यह धारणा खंडित होती है। एक शोध में इस बात की पुष्टि की गई है कि एक स्त्री एक साथ कई कार्य कर सकती हैं, क्योंकि उनका मस्तिष्क 'मल्टी डायमेंशनल' होता है। स्त्रियां घर एवं दफ्तर हर कहीं अपना संतुलन कायम करने में सफल हुई हैं। ऐसे में स्त्री का दायित्व पुरुष से कई गुना अधिक समझा जाना चाहिए।

बहुमुखी प्रतिभा की धनी महादेवी वर्मा न केवल एक सशक्त स्त्री रचनाकार हैं वरन् स्त्री अधिकारों पर मुख्यधारा में आकर बात करने वाली स्त्रियों की पुरखिन भी हैं, महादेवी आधुनिक स्त्री समाज की आदर्श हैं। उनके अमूल्य योगदान के लिए हिन्दी साहित्य जगत उनका सदैव ऋणी रहेगा।

संदर्भ

1.samalochan-blogspot-com@2020 @11@blog&post& 2- html (गरिमा श्रीवास्तव, 'स्त्री दर्पण : नवजागरण और स्त्री पत्रकारिता)। **2.** वही। **3.** वही। **4.** महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियां, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण : 2008; पृष्ठ (अपनी बात) 9। **5.** अनामिका (2013): 'महादेवी की मीरां मनचीते पुरुष की खोज', प्रतिमान, वर्ष-1, खण्ड-1, अंक-1, (जनवरी-जून), पृष्ठ 131। **6.** वाचस्पति पाठकः प्रसाद निराला पंत महादेवी की श्रेष्ठ रचनाएं, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-211001, तेइसवां संस्करण : 2015; पृष्ठ 183। **7.** राधा कुमार : 'स्त्री संघर्ष का इतिहास : 1800-1990, वाणी प्रकाशन 4695, 21ए, दरियागंज, नयी दिल्ली- 110002, आवृत्ति : 2014; पृष्ठ. 23। **8.** भरत सिंह उपाध्याय : 'पैरीगाथा', रामनिवास गौतम (संपादक), गौतम बुक सेन्टर, चन्दन सदन, सी-263ए, गली नं. 9, हरदेवपुरी, शाहदरा, दिल्ली- 110093, प्रथम संस्करण 2010; पृष्ठ 16। **9.** महादेवी वर्मा : 'शृंखला की कड़ियां', लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, तीसरा संस्करणः 2008; पृष्ठ. 12। **10.** वही, पृष्ठ 13। **11.** वहीं, पृष्ठ 12। **12.** लियो तोलस्तोय : 'स्त्री और पुरुष', मेपल प्रेस प्रा. लिम., ए-63, सेक्टर-58, नोएडा, (उ.प्र.)-201301, स्क्रिप्ट एडिशन 2014 पृष्ठ 103। **13.** महादेवी वर्मा : 'शृंखला की कड़ियां', लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण 2008; पृष्ठ 11। **14.** सीमोन द बउआर The Second Sex : 'स्त्री-उपेक्षिता', (अनु. प्रभा खेतान) हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, संस्करण : 1998, पृष्ठ 60, 16। **15.** वही, पृष्ठ 60। **16.** वही। **17.** महादेवी वर्मा, 'शृंखला की कड़ियां', लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण : 2008; पृष्ठ 94। **18.** वही, पृष्ठ 95। **19.** महादेवी वर्मा, 'शृंखला की कड़ियां', लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण : 2008, पृष्ठ 98। **20.** वही, पृष्ठ. 99, **21.** वही, पृष्ठ. 119। **22.** वही, पृष्ठ 119। **23.** वही पृष्ठ. 72। **24.** अनामिका (2013), 'महादेवी की मीरां मनचीते पुरुष की खोज', प्रतिमान, वर्ष-1, खण्ड-1, अंक-1, (जनवरी- जून), पृष्ठ 127। **25.** भदंत आनंद कौशल्यायन : 'जातक कथाएं, (संपा. एस. एस. गौतम), गौतम बुक सेंटर, 1/4446, रामनगर एक्सटेंशन, गली नं. 4, डॉ. आम्बेडकर गेट, मंडोली रोड, शाहदरा, दिल्ली-110032, प्रथम संस्करणः 2015; पृष्ठ 143। **26.** रोहिणी अग्रवाल : 'समकालीन कथा साहित्य सरहदें और सरोकार', आधार प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, एस.सी. एफ. 267, सेक्टर 16, पंचकूला-134113 (हरियाणा), द्वितीय संस्करण : 2012; पृष्ठ 136।

❑❑

C/o डी.आर. गुलेरिया,
गुलेरिया कॉटेज विजय नगर,
नियर- बी.सी.एस. न्यू शिमला,
हि.प्र. पिन-171009 फोन-70183-42787।
Email- sharmaanand786@gmail.com

मानवीय राग के रचनाकार : फणीश्वर नाथ 'रेणु'

डॉ. अरुण कुमार पांडेय

रेणु जीवन की गहरी अनुभूतियों के पारखी रचनाकार रहे। उनकी रचनात्मकता की जड़ें लोक-जीवन की मिट्टी से जकड़ी हुई थी और यही जकड़न उनके हृदय में अपने लोक के प्रति राग उत्पन्न करता रहा। इसलिए वे कभी उखड़ नहीं सके। बल्कि उत्तरोत्तर लोक से उनका संबंध गहरा होता गया। इसका प्रत्यक्ष दर्शन उनकी रचनाओं में होता है। वे अपने जैसे अपनी मिट्टी और लोक संस्कृति से प्यार करने वाले मनुष्यों की जीवन गाथा के प्रस्तोता बनकर अपनी कहानियों-उपन्यासों के माध्यम से स्वयं को उनमें विलीन करते हैं। उनके साहित्य में मानवीयता, करुणा, मानवीय राग और प्रेम की एक शीतल धारा बहती हुई दिखाई पड़ती है। जनता की मुक्ति के लिए कठोर यंत्रणा में जीने के बावजूद उनमें अंत तक जीवन का रस सूखा नहीं।

रेणु ने उपन्यास कहानी के अतिरिक्त रिपोर्ताज, कविता, नाटक आदि अनके विधाओं में रचना की है। इन सभी को पढ़ते-चिंतन करते हुए एक बात स्पष्ट होती है कि रेणु ऊपर से जितने सरल दिखाई पड़ते हैं, अन्दर से उतने जटिल भी हैं। वे अपनी कथाओं में मानवीय संवदेना के अनेक रंग उत्पन्न करते हैं जिससे नीरस भावभूमि भी सरसता से सिंचित हो जाती है। अपनी मानवीय रागात्मकता के कारण ही रेणु अपनी कहानियों में पात्र रूप में ऐसे मनुष्य की तलाश करते हैं जो साधारण हो, जिसमें अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दोनों हों, गुण के साथ अवगुण भी हों। परन्तु वह अपनी सांस्कृतिक चेतना से लबालब भरा हो। यही सांस्कृतिक चेतना उसे गरीबी, अभाव, महामारी और प्राकृतिक आपदाओं से लड़ने में संजीवनी देती है। इस सांस्कृतिक चेतना के कारण ही रेणु के पात्र जीवन की आखिरी सांस तक लड़ते हैं, मर जाते हैं पर हार नहीं मानते हैं। स्थानीयता के प्रभाव के कारण रेणु की कहानियों या उपन्यासों को आंचलिक कहा गया, लेकिन वे जितने आंचलिक हैं उतने ही राष्ट्रीय।

रेणु की कहानियां में ग्राम केंद्र में है। प्रेमचंद के बाद ग्रामीण परिवेश का सर्वाधिक चित्रण रेणु की कहानियों में हुआ है। उनकी कहानियों भारत के गांव के उस जीवन का जीवन्त चित्रण करती हैं जो हाशिए पर पड़ा हुआ है। वह मानवीय राग ही है जो रेणु को ग्रामीण जीवन से बांधकर रखता है। आजादी के बाद टूटते-बिखरते ग्राम जीवन को रेणु निकट से देखते हैं। वे महसूस करते हैं कि विभिन्न कारणों से गांव का सामाजिक ताना-बाना टूटा है। अब एक गांव में एक पंचायत नहीं बल्कि हर जाति की अपनी पंचायत बन गयी है और सबके पंचलाईट भी अलग हो गये हैं। गांव की सामूहिकता भंग हुयी है। लोकगीतों की जगह फिल्मी गाने गाए जा रहे हैं। लोक-कलाकार जो लोगों के हृदय में बसते थे अपने लोकगीतों के कारण, वे दाने-दाने को मुहताज मारे-मारे फिर रहे हैं। मजदूर खेतों में काम न कर शहरों के होटलों में प्लेट मांजना या रिक्शा चलाना अच्छा समझते हैं। रेणु ने टूटन की इस गंभीर

समस्या को अपनी कहानियों में उठाया है।

रेणु कहानियां लिखते नहीं उसे बुनते हैं। यह बुनावट की ही पहचान है कि उनकी कहानियों को पढ़ते समय शब्द अदृश्य होने लगते हैं और पाठक के मन में उनमें वर्णित परिवेश सजीव होकर उभरने लगते हैं। रेणु की कहानियाँ अपनी संरचना, स्वभाव, शिल्प और स्वाद में पूर्व प्रचलित हिंदी कहानी परम्परा में अलग और नई पहचान के रूप में उभरती है। इस आधार पर रेणु को प्रेमचन्द की परम्परा का कहानीकार घोषित किया गया। परन्तु सूक्ष्मता से देखने पर इनकी कहानियाँ प्रेमचंद की कहानियों की भावभूमि से एकदम अलग दिखाई पड़ती हैं और यही अलगाव रेणु को कहानी परम्परा के विकास में अलग रचनाकार बनाता है। इनके विशिष्ट योगदान को प्रख्यात समीक्षकों ने स्वीकारा है। प्रसिद्ध आलोचक डॉ. शिव कुमार मिश्र अपने प्रसिद्ध निबंध 'प्रेमचंद की परम्परा और फणीश्वरनाथ रेणु' में लिखते हैं- 'रेणु उन कथाकारों में हैं, जिन्होंने आधुनिकतावादी फैशन की परवाह न करते हुए, कथा साहित्य को एक लम्बे अर्से के बाद प्रेमचंद की उस परम्परा से जोड़ा जो बीच में मध्यवर्गीय नागरिक जीवन की केन्द्रीयता के कारण भारत की आत्मा से कट गई थी' (रेणु का है अन्दाजे बयां और, भारत यायावर, राजकमल प्रकाशन, पृ.105)। डॉ. नामवर सिंह भी रेणु की कहानियों को प्रेमचंद की कहानियों से अलग मानते हैं। रेणु की कहानी की नई धारा की प्रशंसा करते हुए कहते हैं– 'निःसन्देह इन विभिन्न अंचलों या जनपदों के लोक-जीवन को लेकर लिखी गई कहानियों में ताजगी है और प्रेमचंद की गाँव पर लिखी कहानियों से एक हद तक नवीनता भी' (कहानी पत्रिका, अंक 1956, विशेषांक)। रेणु के मानवीय राग से पूर्ण व्यक्तित्व के कायल निर्मल वर्मा भी थे। रेणु जी के निधन पर श्रद्धांजलि के रूप में उन्होंने एक लेख में लिखा था– 'वे समकालीन हिंदी साहित्य के संत लेखक थे। यहाँ मैं संत शब्द उसके सबसे मौलिक और प्राथमिक अर्थों में इस्तेमाल कर रहा हूँ– एक ऐसा व्यक्ति जो दुनिया की किसी चीज को त्याज्य और घृणास्पद नहीं मानता, हर जीवित तत्व में पवित्रता और सौंदर्य और चमत्कार खोज लेता है। इसलिए नहीं कि वह इस धरती पर उगने वाली कुरूपता, अन्याय, अन्धेरे और आंसुओं को नहीं देखता, बल्कि वह इन सब को समेटने वाली अबाध प्राणवत्ता को पहचानता है, दल-दल से कमल को अलग नहीं करता, दोनों के बीच रहस्यमय और अनिवार्य रिश्ते को पहचानता है (व्लग, 4 मार्च 2011)। ऐसे दुर्लभ व्यक्तित्व को अज्ञेय 'धरती का धन' कह कर संबोधित करते हैं।

रेणु अपनी कहानियों में बिखरते मानवीय मूल्यों और विघटन के कारणों को 'विघटन के क्षण' में तलाशते हैं और उसकी पीड़ा को शब्द देते हैं। रेणु जब इन परिस्थितियों का चित्रण करते हैं तो उनका राग-भाव जाग्रत हो जाता है और मन करुणा से आर्द्र हो जाता है। 'पहलवान की ढोलक' कहानी में जो 1944 में लिखी गयी थी, ग्राम जीवन की भयावहता का चित्र उपस्थित होता है। लुट्टन सिंह पहलवान है और उसकी ढोलक से निकलने वाली आवाज मृत्यु को ललकारती है। रेणु लिखते हैं– 'मलेरिया और हैजे से पीड़ित गाँव भयार्त शिशु की तरह थर-थर काँप रहा था और पहलवान की ढोलक मृत्यु को ताल ठोककर ललकारती रहती चट-था-गिड़-धा, चट्- धागिड़-धा अर्थात आजा भिड़ जा, आजा भिड़ जा और बीच-बीच में वह दूसरा ताल बजाता-चटाक-चट-धा, चटाक-चट-धा यानी उठा पटक दे, उठा पटक दे। ग्रामीणों में उसकी ढोलक की थाप से रोग और बीमारी से लड़ने का जोश पैदा होता है और वे अपनी मृत्यु से पंजा लड़ाकर उसको पछाड़ने की कोशिश करते हैं और वह पहलवान मर भी गया तो 'चित' नहीं हुआ।

रेणु की कहानियों का कथ्य और परिवेश बहुस्तरीय है। वे ग्राम जीवन से लेकर शहरी अभिजात वर्ग के संघर्षों आपदाओं-विपदाओं और उनके दुःख-दारिद्र्य को 'नित्य लीला' के रूप में उजागर करते हैं। रेणु एक ऐसे कहानीकार हैं जो मनुष्य के राग-विराग, प्रेम और घृणा, दुःख और करुणा तथा उल्लास और पीड़ा से एक शिल्पी की भाँति भित्तिका का निर्माण करते हैं। जीवन और प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म सूत्रों से निर्मित उनकी कथाएँ संगीत की तरह पाठकों के अन्तःकरण

में गूँजती रहती हैं। 'टेबुल', 'विकट संकट', 'जलवा', 'रेखाएँ' वृत्तचक्र, 'अग्निखोर' आदि कहानियों में शहरी परिवेश का यथार्थ चित्रण मिलता है। इनके साथ ही 'रसप्रिया', 'आत्मसाती', 'विघटन के क्षण', 'उच्चाटन' आदि कहानियाँ ग्रामीण जीवन के यथार्थ को एक नये स्वरूप में उद्घाटित करती हैं।

कहानियों की तरह रेणु के उपन्यासों में भी जन-जीवन के साथ राग गहरा है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण रेणु के इलाके में जाने से मिलता है। रेणु और उनकी रचनाओं से उस इलाके के आम और खास लोग परिचित हैं। लोगों की जुबान पर 'मैला आंचल' और 'परती : परिकथा' के पात्र नाचते हैं। शायद यही कारण है कि 'मैला आँचल' के प्रकाशनोपरान्त धर्मवीर भारती ने यह उद्घोषणा की थी कि 'गद्य में भी मिथिला की भूमि विद्यापति पैदा कर सकती है, यह मुझे विश्वास हो गया है।' आधुनिक समय में रेणु की छवि मैथिल क्षेत्र में विद्यापति की तरह ही है। लोक का वही प्रिय रचनाकार हो सकता है जिसका रागात्मक भाव आम जन के हर्ष-विषाद से जुड़ा हो। 'मैला आँचल' का उद्देश्य भी तो यही है– 'मिट्टी और मनुष्य से प्रेम' और 'आँसू से भीगी हुई धरती पर प्यार के पौधे लहलहाएँगे। मैं साधना करूंगा, ग्रामवासिनी भारत माता के मैले आँचल तले। कम-से-कम एक ही गांव के कुछ प्राणियों के मुरझाए ओठों पर मुस्कुराहट लौटा सकूँ, उनके हृदय में आशा और विश्वास को प्रतिष्ठित कर सकूँ।'

'भारत माता का आँचल' मैला हो गया है जैसे भाव के बीच रेणु आजादी के बाद के भारत के उस परिदृश्य को उभारते हैं जहाँ लोग अशिक्षा, अज्ञान, साम्प्रदायिकता, जातिवाद, रूढ़िवादिता के गहरे अंधकार में भूखे, बदहाल और विपन्न होकर जी रहे हैं। आदमी जानवर से भी बदतर जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। 'मैला आँचल' के पात्र डॉक्टर को सभी रोगों के जड़ में भूख और गरीबी दिखाई देती है। इसीलिए वह कहता है कि सबसे पहला काम है जानवर को आदमी बनाना। रेणु ने 'मैला आँचल' उपन्यास के द्वारा अपनी रागात्मकता का परिचय देते हुए भारत माता का चित्र उकेरा है। इसमें गांवों की जिन समस्याओं की चर्चा रेणु करते हैं, वे सम्पूर्ण भारत की हैं। इसलिए वे 'मैला आँचल' में इस वाक्य का बार-बार प्रयोग करते हैं कि 'भारत माता जार-जार रो रही है। ऐसा क्यों है?' यह उसी तरह का प्रश्न है जिसे भारतेन्दु हरश्चिंद्र ने 'भारत दुर्दशा' में उठाया था। कुछ स्वार्थी तत्वों के सत्ता पर काबिज हो जाने के कारण गुलामी से मुक्ति के बाद सुनहरे दिनों के जो सपने थे वे चकनाचूर हो गए हैं। रेणु आजादी की इस निरर्थकता को रेखांकित करते हैं। इसलिए रेणु का 'मैला आँचल' जितना आंचलिक है उतना ही राष्ट्रीय भी है।' 'मैला आँचल' के अतिरिक्त 'परती परिकथा', 'पल्टूबाबू रोडट, 'दीर्घतपा' आदि उपन्यासों की भावभूमि भी ऐसी ही है। रेणु की इस रचनधर्मिता से प्रभावित होकर कथाकार निर्मल वर्मा कहते हैं– 'रेणु का महत्व उनकी आंचलिकता में नहीं है, आंचलिकता के अतिक्रमण में निहित है। बिहार के एक छोटे भूखण्ड की हथेली पर उन्होंने समूचे उत्तरी भारत के किसान की नियति रेखा को उजागर किया था। यह रेखा किसान की किस्मत और इतिहास के हस्तक्षेप की बीच गूँथी हुई थी' (रेणु का है अंदाजे वयां और, भारत यायावर, पृ.119)।

रेणु ग्राम्य जीवन में रचे बसे रचनाकार हैं-ग्राम्यजीवन की एक विशेषता संवेदनशीलता भी है। रेणु का मानवीय राग ही उन्हें अत्यंत संवेदनशील बनाता है। उनके राग से भरी संवेदनशीलता हमें उनके संस्मरणों में भी दिखाई पड़ती है। उनकी 'स्टिल लाइफ' संस्मरण में गहरी संवेदना उजागर होती है। इसमें एक ऐसे रोगी की कहानी है जो लावारिश है। दरअसल बात तब की है जब रेणु अस्वस्थ थे और अस्पताल में भर्ती थे। तभी रोज़ की भांति एक नया मरीज़ वार्ड में आया। नए मरीज़ का भर्ती होना या पुराने मरीज़ की अस्पताल से छुट्टी होना कोई नयी या आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु इस मरीज़ के साथ कुछ अलग था। वह जब भर्ती हुआ तो बिलकुल सन्नाटे में, न कोई चीखपुकार, न ही हल्ला गुल्ला- बस अस्पताल के कर्मचारी आये और उसे बेड पर लिटा दिया। इसी मरीज़ ने रेणु के अंतर्मन को हिला कर रख दिया। इसको याद करते हुए रेणु अपने संस्मरण में लिखते हैं– 'बेड नंबर 4-! एक्सपायर्डमर गया 4

नम्बर वह सिर्फ मर गया! किसी का सुहाग नहीं लुटा और न किसी की आँखों का तारा ही टूटा। उसके मरने के बाद किसी प्रकार के सामूहिक रुदन का भी कोई आयोजन नहीं हुआ। वह सिर्फ मर गया। सिर्फ मरने में अंतर है।' रेणु को उस 4 नम्बर बेड वाले पेशेंट का मरना जैसे मानवता का दम तोड़ने जैसा लगा। एक व्यक्ति मर गया। उसके लिए कोई रोने वाला नहीं। किसी को कोई परवाह नहीं। उसके मरने जीने का किसी पर कोई असर नहीं। एक इंसान के मर जाने पर किसी के चेहरे पर सिकन तक नहीं। यह क्या है? हमारी मृतप्राय संवेदना का ही प्रतीक है। या कि हमारे स्वार्थी स्वभाव का। वह लावारिस था, मर गया। पर वह जो सिर्फ मर गया, वह रेणु की स्मृतियों में सदैव जीवित रहा। अब वह लावारिस बेड नम्बर 4 उनके संस्मरणों में सदा सर्वदा के लिए जीवित है। यह रेणु के मानवीय राग का उदात्त पक्ष है। रेणु के ऐसे बहुत सारे संस्मरण हैं जिनमें रेणु का संवेदनशील मन खुलकर झांकता है। 'ईश्वर रे, मेरे बेचारे।', 'एक स्मृति एक पत्र', 'टूटते बिखरते सपनों की दास्तान', 'एक रात', 'अपनी कथा', 'पुरानी याद' आदि कुछ ऐसे ही संस्मरण हैं, जिनमें रेणु का सहज, सरल और सवेदनशील व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है।

निष्कषर्तः हम कह सकते हैं कि रेणु का कथा साहित्य हो, उपन्यास हों या संस्मरण सभी में उनकी रागयुक्त मानवीय संवेदना मुखरता से अभिव्यक्त हुई है। उनकी सभी रचनाओं में मानवीय संवेदना का सहज प्रवाह, परम्पराबोध, संस्कृतिबोध, अस्मिताबोध, अतीत के प्रति गौरव का भाव और विचारधाराओं के अन्धानुकरण का प्रतिकार दिखायी पड़ता है।

❒❒

सह आचार्य-राजीव गाँधी विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय) रोनो हिल्स,
दोईमुख अरुणाचल प्रदेश-791112
मो. 9612540643
Email - arunpandey1975@gmail.com

■ *मुझे अपने देश पर गर्व है। लेकिन हमें जातिवाद और सांप्रदायिकता से मुक्त एक अखंड भारत बनाने के लिए एकजुट होने की जरूरत है। हमें सभी के लिए समान अवसर वाले भारत का निर्माण करने की आवश्यकता है। अगर हम अपने नजरिए को ऊंचा रखते हैं और निरंतर विकास, समृद्धि और समान अवसर को लोगों तक पहुँचाते हैं तो हम वास्तव में महान राष्ट्र हो सकते हैं।*

■ *हर व्यक्ति में कुछ विशेष गुण एवं प्रतिभाएं होती हैं, इसलिए व्यक्ति को सफलता पाने के लिए अपने गुणों की पहचान करनी चाहिए।*

■ *हम लोग इंसान हैं कोई कम्प्यूटर नहीं, जीवन का मजा लीजिये, इसे हमेशा गंभीर मत बनाइये।*

■ *दूसरों की नकल करने वाले व्यक्ति थोड़े समय के लिए तो सफलता प्राप्त कर सकते हैं लेकिन जीवन में बहुत आगे नहीं बढ़ सकते हैं।*

-रतन टाटा

समकालीन हिंदी महिला साहित्यकारों के उपन्यासों में बदलते जीवन-मूल्य

वैशाली

उपन्यास हिंदी साहित्य की अत्यंत समृद्ध विधा है। उपन्यासों में मानव जीवन के विभिन्न पक्षों, घटनाक्रमों और मानवीय संबंधों को व्यापक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उपन्यासों के माध्यम से वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन की संघर्ष गाथा को जाना जाता है और साथ ही अतीत का पुनरावलोकन किया जाता है। उपन्यास में सामाजिक संघर्षों का जीवन्त दस्तावेज है तथा व्यक्ति के निजी जीवन की पीड़ा भी इसमें दिखाई देती है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में तीव्र औद्योगीकरण के साथ सामाजिक जीवन में परिवर्तन देखने को मिलता है। कहते हैं साहित्य समाज का आईना होता है तो ऐसे में औपन्यासिक कृतियों में इसका प्रभाव दिखाई देता है। बदलते समय के साथ मूल्यों में परिवर्तन आया जिससे समाज के रीति-रिवाज, परस्पर व्यवहार संबंध और जीवन के प्रति धारणा आदि में परिवर्तन देखने को मिला। परन्तु पुराने मूल्यों के प्रति मोह और नए मूल्यों को ग्रहण करना दोनों आपस में टकराते हैं। मूल्यगत विकास के लिए यह टकराहट एक अत्यावश्यक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया सामाजिक, सांस्कृतिक, रीति-रिवाज का विद्रोह, धार्मिक बाह्य आडंबरों पर प्रहार और कभी कभी दो पीढ़ियों के संघर्ष आदि रूप में सामने आती है। वर्तमान समय में बदलते मूल्यों के संघर्ष को विभिन्न उपन्यासकारों ने प्राचीन और नये जीवन मूल्यों के संघर्ष को अपने उपन्यासों के माध्यम से सफलतापूर्वक दिखाने का प्रयास किया है। अतः वर्तमान समय में वास्तविक संघर्ष जीवन-मूल्यों का ही संघर्ष है।

जीवन मूल्य हमारे जीवन जीने के मापदंड होते हैं अर्थात जीवन के मापदंडों से ही मूल्य शब्द का उद्भव होता है। जो मनुष्य मूल्य के महत्त्व को समझता है वह अपनी जीवनशैली में मूल्यों को अपनाता है। वही मनुष्य समाज में मूल्यवान कहलाता है। 'जो होना चाहिए' से संबंधित विचार का नाम मूल्य है, यही मूल्य जीवन के व्यवहार को प्रभावित करते हैं। प्रो. मैकेन्ज़ी के अनुसार– 'मूल्य या जीवन मूल्य से हमारा आशय उस विचार से है जो एक विचारशील प्राणी के चिंतन का परिणाम है।'[1]

व्यक्ति के व्यक्तित्व और सामाजिक व्यवस्था से मूल्य का घनिष्ठ संबंध है। मूल्य व्यक्ति और समाज के हित का प्रमुख तत्व है। सभी मूल्य मनुष्य की कल्याण भावना से जुड़े होते हैं। डॉक्टर देवराज के अनुसार–'मूल्य वे होते हैं जिनकी मनुष्य कामना करता है। चरम मूल्य उन वस्तुओं, स्थितियों, व्यापारों एवं उन विशिष्ट पहलुओं को कहते हैं जो मनुष्य की सार्वभौम संवेदना को आवेगात्मक अर्थवत्ता देते हुए दिखाई देते हैं।'[2]

मानव जीवन ही मूल्यों का केंद्र माना जाता है। शशिप्रभा शास्त्री ने 'क्योंकि' उपन्यास में

लिखा है कि वर्तमान समय में सामाजिक परंपराओं, रूढ़ियों के बदलते स्वरूप में निरंतर परिवर्तन आ रहा है। बेरोजगारी के कारण देश का युवा अपने पथ से हट कर तमाम विसंगतियों में फंस चुका है– 'थके टूटे अनपढ़ जाहिल गंदे मैले कुचले ये बिगड़ैल युवक देश के भविष्य के कर्णधार, युवकों के नाम पर हडी या फसफस हुई देह, जुआ-चोरी लूटपाट जैसे खुरापाती लतों को पाले हुए, छुरे-पिस्तौल के बल पर शक्ति समेटे ये युवक अपना क्षोभ दिखाते हुए, जबरन दूसरों के अधिकारों का हनन करते हैं। अमूमन आज उन उदंड व जाहिल प्रवृत्ति के युवकों की एक बड़ी भीड़ देश के हर भाग में फैली हुई है। इनके पथभ्रष्ट बनना और इसके पीछे वास्तविक कारण क्या हो सकते हैं, इन्हें जानना आवश्यक है, अन्यथा इनके द्वारा गलत मार्ग पर चलने का क्या नतीजा सामने आयेगा व क्या होगा इस देश का यह जानना बेहद जरूरी है।[3] बदलती परिस्थितियों के साथ मनुष्य के दैनिक जीवन में भी परिवर्तन हो रहा है। लंबे समय से बेरोजगार लोग पैसा कमाने के लिए गैर कानूनी और गलत गतिविधियों में शामिल हो जाते है जिससे देश में अपराध बढ़ता है। परिस्थितियां मनुष्य से न जाने क्या-क्या करवा लेती है इसका पता स्वयं मनुष्य को भी नहीं चलता है। मनुष्य रोजगार के अभाव में स्वयं के परिवार और देशहित के महत्व को नहीं समझ पाता।

बदलते परिवेश में मनुष्य की सोच में भी परिवर्तन हुआ है। पहले विवाह घर-परिवार की सहमति द्वारा तय किये जाते थे। समय परिवर्तनशील है और वर्तमान में जीवन मूल्यों में परिवर्तन होने के कारण विवाह घर के बड़ों की मर्जी से न होकर अब बच्चे स्वयं की पसंद अनुसार करते हैं। शशिप्रभा शास्त्री 'क्योंकि' उपन्यास के माध्यम से व्यंग्य कसते हुए कहती हैं– 'आपके बच्चे लव मैरिज कर लें तो बात जुदा है, तब तो आपके वश की बात नहीं है। उस समय भी आप यह जरूर चाहेंगी जहां तक मैं सोचती हूँ कि भले ही बच्चे कैसी शादी कर ले, अगर आपने उसे शादी के लिए अपनी सहमति दे दी है, उसे स्वीकार कर लिया है, तो आप चाहेंगे आपके बच्चे की शादी अपने ढंग से हो।[4]

मनुष्य की सोच बदलने के कारण रीति-रिवाजों और परंपराओं में परिवर्तन देखने को मिल रहा है। वर्तमान समय में युवा अपनी सोच के अनुसार ही आगे बढ़ना चाहता है। उपन्यासों में बदलते परिवेश के अनुसार विवाह की समस्या का चित्रण है तो कहीं विवाह न करने की त्रासदी है जिसे लेखिका शिवानी ने 'चौदह फेरे' उपन्यास में अभिव्यक्त करते हुए कहती हैं– 'नई पीढ़ियां बहक गयी हैं, परन्तु कर्नल की दृष्टि में दोषी नई पीढ़ी नहीं, पुरानी पीढ़ी थी। जैसे मनुष्य के पेट की क्षुधा समय पर भोजन न जुटने से निकृष्ट कार्य करने को वांछित कर देती है, ऐसे ही शरीर की क्षुधा को भी मनुष्य भुला नहीं सकता। सब समय पर ही कन्यादान की सप्तयदी से मुक्ति क्यों पा लेते?[5]

आर्थिक विपन्नता के चलते युवा पीढ़ी हताश एवं निराश हो गयी है। समस्याओं के कारण मनुष्य कितना असहाय हो जाता है। स्वार्थी भाव से व्यक्ति केवल अपने ही बारे में सोचता है। शाल्मली का पति जीवन में उसको आगे नहीं बढ़ने देता और हर समय उसको अपमानित करता है। शाल्मली अपनी वेदना को अभिव्यक्त करते हुए कहती है–'हर मनुष्य की वैवाहिक क्षमता की एक सीमा होती है, और वही उसका मापदंड भी, जो न किसी अन्य के प्रभाव को ग्रहण करती है, और न ही घटती-बढ़ती है। यह तो व्यक्ति की निकटतम व्यक्तिगत निधि है जहां अच्छी-बुरी संगति अवश्य ही व्यवहार प्रभावित करती है। वह नरेश से आशा करती है कि उसका बौद्धिक विकास, अपनी शक्ति और परिधि को तोड़ते हुए बाहर निकल कर कुछ नया रच डाले। यह संभव है, मगर उसके व्यवहार में बढ़ती और उद्दंडता को अपने प्रयत्नों से अनुशासित तो कर सकती है।[6] शाल्मली अत्यंत दुखी है। पति के साथ जीवन जीना उसके लिए अभिशाप बन गया है। लेखिका नासिरा शर्मा यहां वैयक्तिक मूल्यों की ओर इंगित कर रही हैं। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। बदलती परिस्थितियों के साथ हमारे मूल्य भी परिवर्तित होते हैं। पुरानी जड़ परम्पराओं का विरोध कर लेखिका ने नए मूल्य को स्थापित किया है। लेखिका मृदुला गर्ग ने 'मैं और मैं' उपन्यास में यह स्पष्ट करते हुए लिखती है– 'तमाम रिश्ते व मूल्य धारणाएं न झूठी हैं। लाशें जिन्हें कठपुतली वाले ने डोर से बांध रखा है और इधर-उधर

नाच रहा है। उसके इशारों पर नाचने को जिंदगी का नाम भले ही दें, है वह मौत का हिस्सा।[7]

संबंधों के टूटने से व्यक्ति का आत्मविश्वास भी टूट जाता है। वर्तमान समय के समाज में संबंधों की परिभाषा ही बदल गई है। रिश्तों में त्याग, समर्पण, प्रेम, सम्मान के स्थान पर छल-कपट बढ़ गया है। समाज में सबसे पवित्र पति-पत्नी का रिश्ता माना जाता है। अब इस रिश्ते की जड़ें भी दिन-प्रतिदिन खोखली हो रही हैं। वैवाहिक रिश्तों में रिक्तता आने से उनका अस्तित्व ही समाप्त होने लगा है। मंजुल भगत का उपन्यास 'टूटता हुआ इंद्रधनुष' में रिश्तों में खट्टास उत्पन्न हो गई है। शोभना का अन्य पुरुषों से संबंध है जिसकी जानकारी पति को है। पति प्रभात का पत्नी के प्रति प्रेम समाप्त हो गया है। शोभना व्यंग करते हुए कहती है– 'जीवन में कोई भी इतना महत्वपूर्ण नहीं है कि किसी के न होने से संपूर्ण जीवन ही नष्ट हो जाए। अतः जो बीत गया है, उसका शव लेकर बैठे रहना समझदारी नहीं है।[8] संबंधों को मजबूरी में चलाने से अच्छा है कि उनको समाप्त कर दिया जाए। रिश्तों को जोर जबरदस्ती घसीटते रहना समझदारी नहीं है। मनुष्य का रिश्ता प्रेम, विश्वास पर टिका होता है जब प्रेम, विश्वास ही नहीं हो तो वह रिश्ता अधिकतर समय तक चल नहीं सकता।

इक्कीसवीं सदी में जहां स्त्री का स्वरूप बदला वहीं उसका पुनरुत्थान हुआ। संविधान में स्त्री को समानता का अधिकार मिला और जीवन में उन्नति के मार्ग की ओर अग्रसर हुई। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री ने पुरुषों के विरुद्ध अपनी नूतन अस्मिता बनायी है। लेखिका मंजुल भगत के उपन्यास 'अनारो' में नारी जीवन के संघर्ष और द्वंद्व को दिखाया गया है। अनारों अपने स्वाभिमान के कारण अनेक समस्याओं का सामना करती है। पति के सामने उसका मान-सम्मान बना रहे, उसके लिए प्रयत्नशील रहती है और कहती है– 'कर्जा तो चुटकियों में उतर जायेगा, पर उसकी कदर बनी रहे, उसके मरद की नजर में।[9] अनारो अपनी पुत्री के विवाह के लिए जो भी कर्जा लेती है उसको चुकाने के लिए रात-दिन मेहनत करके चुका देती है। परिवार एवं समाज में अपनी प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए संघर्ष करते हुए नजर आती है। नारी स्वयं की इच्छाओं का त्याग कर परिवार का निर्वाह करती है जिससे परिवार के संबंधों में टकराव एवं बिखराव न आये। उपन्यासों के माध्यम से लेखिकाओं ने दर्शाया है कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर मूल्य किस तरह परिवर्तित हो रहे हैं। पहले नारी स्वयं की मर्जी से कुछ नहीं कर पाती थी, परंतु आज समाज, परिवार में अपनी प्रतिष्ठा कायम कर रही है।

वर्तमान समय में मूल्यों में इतना परिवर्तन आ गया है कि स्त्री सही हो या गलत। वह किसी के आगे घुटने नहीं टेकना चाहती। पुरुष के समानांतर स्त्री भी किसी संकट का सामना करने को तत्पर है। लेखिका मन्नू भंडारी के उपन्यास 'आपका बंटी' में नारी के सशक्त रूप को दिखाया है। वह अपने व्यक्तित्व के लिए परंपराओं, मान्यताओं और रूढ़ियों का विरोध कर सकती है। वह हर समस्या का सामना करने के लिए उपस्थित है– 'भीतर ही-भीतर चलने वाली एक अजीब सी लड़ाई थी वह भी, जिसमें दम साधकर दोनों ने हर दिन प्रतीक्षा की थी कि कब सामने वाले की सांस उखड़ जाती है और वह घुटने टेक देता है जिससे कि फिर बड़ी उदारता और क्षमता के साथ उसके सारे गुनाह माफ करके उसे स्वीकार कर ले, उसके सारे व्यक्तित्व को निरे शून्य में बदलकर[10] स्त्री के शिक्षित होने से वह कठिन से कठिन परिस्थितियों का सामना कर सकती है।

मेहरुन्निसा परवेज ने 'अकेला पलाश' उपन्यास में नारी के नूतन विचारों को दिखाया है। पति के अतिरिक्त वह अन्य पुरुषों के साथ संबंध बनाना गलत नहीं समझती। घर में अगर इस बात का पता चल जाए तो न जाने कैसे-कैसे नामों से बुलाया जाता है। नायिका मन की बात को अपने भाई से कहती है। भाई बहन को समझाते हुए कहता है- 'नहीं... मैं यही कहूंगा कि दीदी ने देर सही पर सही कदम उठाया है। अब मेरी दीदी घुट-घुटकर नहीं मरेगी। अब उसने भी खुली हवा में सांस लेना सीख लिया है।'[11]

नारी अब घुटकर नहीं खुली हवा में अपनी इच्छा अनुसार जीना चाहती है। लेखिका चंद्रकांता अपने उपन्यास 'यहां वितस्ता बहती हैं' के पात्र द्वारा वर्तमान समाज की बदलती हुई परिस्थितियों के बारे में कहती है-

'अजी आप लोग खैर-खबर रखते भी हैं, कुछ एन्योनी भाई लड़कियों को शह दी है आपने, नहीं तो मजाल थी, कि वह मुंह उठाकर लड़कों को देख भी लेती? इधर तो पूरी मर्दगार बनती जा रही हैं लड़कियां।[12] वर्तमान समय में नारी बोलने और पहनावे की पूर्ण स्वतंत्रता चाहती है। नारी अब किसी भी स्तर पर स्वयं को दुर्बल नहीं मानती है।

सार रूप में कहा जा सकता है कि समकालीन लेखिकाओं ने उपन्यासों के माध्यम से परंपरागत मूल्यों को अस्वीकार कर वर्तमान समय में मूल्यों में हो रहे परिवर्तन को ग्रहण किया है। लेखिकायों ने उपन्यासों में मूल्यों को प्रतिष्ठित करने के लिए सामाजिक जीवन और नूतन सिद्धांतों को आधार बनाया है। उपन्यासों में मूल्य वैवाहिक जीवन का चित्रण, पुरानी जड़ परम्पराओं का विरोध, विघटित मूल्य, नारी शोषण व बदलती परिस्थितियों के साथ मूल्यों में हो रहे परिवर्तन को प्रस्तुत किया गया है। नई पीढ़ी एवं पुरानी पीढ़ी के विचारों की विरोधी मानसिक एवं शारीरिक विसंगतियों का चित्रण किया गया है। अतः पारिवारिक मूल्यों को महत्व देते हुए भी मनुष्य समाज में नये मूल्यों के प्रतिपादन लिए संघर्षरत है।

संदर्भ

1. जे.एस. मैकन्जी, ए मैन्युअल ऑफ एथिक्स, न्यू सेंट्रल बुक एजेंसी, 1973, पृ.-219। **2.** डॉ. देवराज, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, 1957, पृ.-168। **3.** शशिप्रभा शास्त्री, क्योंकि, नेशनल पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली, 1976, पृ.-41। **4.** वही, पृ.48। **5.** शिवानी, चौदेह फेरे, राधाकृष्ण प्रकाशन, अंसारी रोड दरियागंज, दिल्ली 2. प्रथम संस्करण 2006, पृ.-51। **6.** नासिरा शर्मा, शाल्मली, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ.-155-156। **7.** मृदुला गर्ग, मैं और मैं, नेशनल पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1984, पृ.3। **8.** मंजुल भगत, टूटता हुआ इन्द्रधनुष, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1976, पृ.-34। **9.** मंजुल भगत, अनारो, राजकमल प्रकाशन, 1997, पु.-104। **10.** मन्नू भंडारी, आपका बंटी, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1971. पृ.-35-36। **11.** मेहरुन्निसा परवेज, अकेला पलाश, वाणी प्रकाशन, 2010, पृ.-152। **12.** चन्द्रकांता, यहां वितस्ता बहती है, वाणी प्रकाशन, 2011, पृ.-59।

❑❑

शोधार्थी– हिंदी विभाग
केन्द्रीय विश्वविद्यालय, हिमाचल प्रदेश
धर्मशाला-176215
ई-मेल : vaishali.kondal1992@gmail.com
मो. 9667515304

क्रांतिवीर चन्द्रशेखर आजाद

23 जुलाई 1906 को मध्य प्रदेश के भावरा ग्राम में घोर विपन्न ब्राह्मण घर में श्री चन्द्रशेखर का जन्म हुआ। काशी विद्यापीठ में संस्कृत का अध्ययन किया। अंग्रेजों की गुलामी के उस दौर में वे सशस्त्र क्रांति की बात सोचते रहते थे। महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन में काशी विद्यापीठ के छात्रों ने जुलूस निकाला जिसमें चन्दद्रशेखर के हाथ में झंडा था अतः उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। मजिस्ट्रेट के आदेशानुसार उनकी पीठ पर बेंतों की इतनी मार पड़ी कि मांस दिखने लग गया तब भी वे वंदे मातरम्, भारत माता की जय, महात्मा गांधी की जय का उद्घोष करते रहे। डॉ. सम्पूर्णानंद ने 'मर्यादा' में 'वीर बालक आजाद' शीर्षक से एक लेख लिखा, जिससे इनका नाम चन्द्रशेखर आजाद प्रसिद्ध हो गया। इनके सशस्त्र प्रतिरोध ने अंग्रेज सरकार के नाक में दम कर दिया। अंग्रेजों से सशस्त्र संघर्ष करते हुए 27 फरवरी 1931 को प्रयागराज में वे शहीद हो गये।

समकालीन नाटकों में पौराणिक कथाओं की प्रासंगिकता

मनोज मल्लाह

हिन्दी साहित्य जगत में भारतीय पौराणिक कथाओं का बहुत बड़ा योगदान रहा है। भारतेंदु युग में जहां अधिकांश रचनाओं में पौराणिकता को आधार बनाया गया वहीं आगे चलकर मानव मूल्य समस्या को आधार बनाकर वास्तविक जीवन से संबंधित रचनाएं लिखी जाने लगी। धातव्य है कि पौराणिक कहने से तात्पर्य सिर्फ यहां पुराणों से नहीं अपितु महाभारत और रामायण की कथा वाचना से भी है। देवर्षि सनाढ्य ने अपनी पुस्तक 'हिंदी पौराणिक नाटक' में महाभारत और रामायण को ऐतिहासिक पुराण की संज्ञा दी है, वे कहते हैं कि पुराणों के समान ही रामायण और महाभारत में भी प्रधान कथा के साथ अनेक आख्यान हैं, महाभारत में ऐसे आख्यानों की संख्या अधिक है।[1] वह एक जगह लिखते हैं 'रामायण और महाभारत को पुराणों में नहीं गिना जाता। इन्हें हम ऐतिहासिक पुराणों के तौर पर देखते हैं।[2] हिन्दी में नाट्य लेखन का प्रारम्भिक दौर पौराणिक कथाओं पर आधारित नाटकों का रहा जिसमें परसियन थियेटर की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। नाटक के विकास को देखें तो समाज में जिस प्रकार धीरे-धीरे लोगों के बीच विभिन्न समस्याओं का जन्म होता है उसी के अनुरूप हिंदी नाटक के लेखन में भी परिवर्तन होता आया है, जिसके फलस्वरूप नाटकों में पुरानी कथाओं को आधार न बनाकर मूल समस्या की वास्तविकता पर रचनाएँ की जाने लगी। साठोत्तरी काल तक आते-आते हिन्दी नाटक में मोह-भंग, अमानवीयता, मूल्यहीनता, अस्तित्वबोध, जिजीविषा, मानव की तलाश, अजनबीपन इत्यादि जैसी समस्या भी जन्म लेने लगी, उसी क्रम में नाटक में भी इसका प्रभाव देखा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप भुवनेश्वर जैसे नाटककार जिन्होंने कई असंगत नाटक लिखे। किंतु जहाँ नाटक की विकास यात्रा के समकालीन दौर में प्रवेश के साथ विभिन्न प्रवृत्तियों का जन्म होता है वहीं कुछ नाटककार ऐसे भी हैं जिन्होंने अपने अधिकांश नाटकों में पौराणिक कथाओं को ही आधार बनाए रखा, परन्तु उनकी दृष्टि आधुनिक है। जैसे लक्ष्मीनारायण लाल का नाटक 'मिस्टर अभिमन्यु', 'नरसिंह कथा', 'यक्ष प्रश्न'; शंकर शेष का नाटक 'एक और द्रोणाचार्य', 'अरे मायावी सरोवर', 'कोमल गंधार'; डॉ. विनय का नाटक 'एक प्रश्न मृत्यु'; भीष्म साहनी का नाटक 'माधवी'; दया प्रकाश सिन्हा का 'कथा एक कंस की', नंदकिशोर आचार्य के 'देहांतर', 'हस्तिनापुर'; विनोद रस्तोगी का 'सूतपुत्र'; दूधनाथ सिंह का 'यमगाथा' इत्यादि। यहां हम भीष्म साहनी के 'माधवी' एवं शंकर शेष के नाटक 'एक और द्रोणाचार्य' को उदाहरण स्वरूप लेते हैं।

भीष्म साहनी द्वारा रचित 'माधवी' पितृसत्तात्मक तथा स्त्री शोषण पर आधारित एक महत्त्वपूर्ण नाटक है। स्त्री एक ऐसा नाम है जिसके बिना संसार पूरा नहीं है। प्रकृति हो या स्त्री एक समान ही उनका आचरण इस जगत में है। किंतु यह सब के बावजूद युगों-युगों से उनका शोषण होता आया है। पुरुष सत्ता इसे दबाते आए हैं, आज जो स्थिति है किसी से छुपी नहीं है। भीष्म साहनी

ने आधुनिक दौर में इन स्त्रियों के शोषण और त्याग को आधार बनाते हुए माधवी नाटक की रचना की, जो समकालीन दौर का एक महत्वपूर्ण नाटक है। माधवी नाटक में भीष्म साहनी ने धार्मिक ग्रंथ महाभारत के अंश को अपने नाटक का मुख्य बिंदु बनाया है। भीष्म साहनी ने माधवी नाटक में किसी आधुनिक पात्र या आधुनिक घटना का उल्लेख न करते हुए पुरानी कथा को मुख्य बिंदु के तौर पर नाटक की कथा बनाई है। नाटक में पुरुष पात्र अपने-अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए सुविधा हेतु स्त्री को दांव पर लगाते हैं। स्त्री को पुरुष जाति ने अपनी सुविधा हेतु स्त्री को धार्मिक कहे या राजनीतिक या फिर सामाजिक बंधनों की आड़ में जकड़ कर उनको हमेशा अवहेलना, प्रताड़ित, शोषण किया है। भीष्म साहनी का नाटक पौराणिक होते हुए भी इस तरह इसकी रचना हुई है कि इस नाटक में तीन महान पुरुष पात्र गुरु विश्वामित्र, दानवीर ययाति और गुरु दक्षिणा देने वाला शिष्य गालव के रहते हुए एक स्त्री पात्र नाटक की मुख्य भूमिका में है। जिसका तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में अनेक पुरुष भोग कर शोषण करते हैं।

'एक और द्रोणाचार्य' शंकर शेष द्वारा रचित नाटक महाभारत की एक समानांतर कथा के माध्यम से आज के तथाकथित बुद्धिजीवियों के समझौतावादी चरित्र की विनम्रता को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करता है। कथा में अरविंद महाविद्यालय का आदर्शवादी प्रोफेसर जो परिस्थितियों के दबाव और जीवन के छोटे-छोटे सुखों के लिए न्यायप्रिय, संवेदनशील, ईमानदार और सच्चा व्यक्ति होते हुए भी कोई निर्णय नहीं ले पाता, बुराई को देखता और सहता रहता है तथा अपराधी की भाँति जीवन व्यतीत करने को मजबूर हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार महाभारत में द्रोणाचार्य होता है। शिक्षा व्यवस्था की ऐसी दशा महाभारत कालीन हो या 1976 में लिखे गये शंकर शेष के नाटक के समय।

इस संदेह को दूर करने के लिए कि आखिर कब तक ऐसी कथाओं को आधार बिंदु बनाया जायेगा तो उससे पहले यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि पाठक किस प्रकार की रुचि रखते हैं। चूँकी इनमें सीधे तौर पर धार्मिक कथा को उठाया गया है। किंतु भारत यह भावना किसी तथ्य और तर्क से भी ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाती है कि उनकी आस्था किस रूप में कार्य कर रही है। अगर कुछ चीजें रुढ़ियों में जकड़ी पाई जाती हैं तो उनका निवारण भी उन्हं रुढ़ियों को सामने रखकर किया जाता है। साथ ही तत्कालीन समाज की बिडम्बना तथा वह इतिहास जो कभी बदला नहीं गया है उसपर भी प्रश्न चिह्न खड़ा करता है। आखिरकार क्या बदला, जिस मानसिकता को इतिहास ने दिखाया, आज भी उसी मानसिकता को आगे की पीढ़ी के लिए नए सिरे से तैयार कर रहे हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि 'एक और द्रोणाचार्य' और 'माधवी' समकालीन दौर के श्रेष्ठ नाटको में से हैं। परंतु यहां समकालीनता पर सवाल खड़ा होता है कि नाटक अब इतने विकसित होने के बावजूद भी वही वैदिक, पौराणिक कथा को लिए हुए हैं। गिरीश रस्तोगी लिखते हैं, 'यद्यपि यह सवाल अवश्य उठता है कि पौराणिक कथानक और मिथक क्यों और कब तक। नाटककार स्वयं इस प्रकार की कृति में बड़े रचनात्मक खतरे की बात कहता है।[3] गिरीश रस्तोगी यहाँ रचनाकार के स्वयं के खतरे की बात करते हैं कि आखिरकार रचनाकार को क्या आवश्यकता पड़ी ऐसी रचना की? 1975 के आसपास क्या ऐसी तत्कालीन परिस्थिति या परिवेश मौजूद था जिससे यह नाटक उस समय के इन कथा शिल्पों के साथ सार्थक सिद्ध हुई हो। ऐसे कई सवाल जो उभरकर सामने आते हैं।

'एक और द्रोणाचार्य' नाटक जिसमें शिक्षकों की व्यक्तिगत दशा को दिखाया गया है। शिक्षा एक ऐसी मूल्य वस्तु है जिसके बिना एक अच्छे समाज, देश, संसार की कामना नहीं कर सकते हैं। यह नाटक भी शिक्षा के क्षेत्र में आए कुछ ऐसे ही बुद्धिजीवी लोगों पर है जिसके केंद्र में अरविंद रहता है, जो सुविधाभोगी है। अपने कर्तव्य का निर्वाह करना वह तब छोड़ता है जब उसके सामने उसका स्वार्थ आता है और वह भ्रष्टाचार तथा कूटनीतिक मनोदशा में जकड़ जाता है। वह ना तो शिक्षा का दायित्व निर्वाह कर पाता है और ना ही इंसानियत का। उसकी पत्नी जो मध्यवर्गीय मानसिकता में जकड़ी स्थितियों से परिचित है, अरविंद को प्रत्येक दशा से अवगत कराती है। अरविंद का मित्र यदु इस नाटक में निष्क्रिय पात्र के

तौर पर दिखता है। वह पहले से ही सुविधाभोगी है और परिस्थितियों से समझौता कर निर्णय हीन रूप में है। प्रेसिडेंट जिसके हाथों में सारी बागडोर, सभी के गले की पट्टी की रस्सी को लिए हुए रहता है। वह अरविंद को ब्लैकमेल करता है। देखा जाए तो प्रशासन की कुंजी इसी के पास है। चंदू जो क्रांतिकारी स्वरूप का छात्र नाटक को समस्या की ओर ले जाता है। विमलेंदु जो नाटक में एक मृत व्यक्ति के तौर पर दिखता तथा अरविंद के अंदर के द्वंद्व और भय के रूप में दिखता है। यह नाटक में कौतुहलता के साथ अरविंद की छाया के रूप में रहता है। इसी के समानांतर महाभारत कालीन कथा चलती है जिसमें द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृति, अर्जुन इत्यादि पात्र आते हैं। किंतु समानांतर चलने के बावजूद कई ऐसे पात्र हैं जिनका सिर्फ पौराणिक कथा में महत्व है और कुछ पात्र आधुनिक कथानक में हैं, जैसे महाभारत कथा में अर्जुन और आधुनिक में अनुराधा इत्यादि। इस नाटक को देखने पर पता चलता है कि नाटक आधुनिक संदर्भ के हर पहलु से वाकिफ कराता है एवं नाटक के तौर पर खरा उतरता है। पौराणिक कथा का प्रयोग शंकर शेष नाटक को श्रेष्ठता प्रदान करने के लिए करते हैं, जिससे नाटक के जो कुछ अंश अधूरे प्रतीत होते हैं वे पूरे लगें। समकालीन परिस्थितियों को लिए हुए यह नाटक शिक्षा व्यवस्था पर गहरा प्रभाव डालता है।

'माधवी' जो संपूर्ण पौराणिक कथा को लिए हुए है, जिसमें एक भी आधुनिक पात्र नहीं है। माधवी जो एक स्त्री पात्र है वह हर तरह से प्रताड़ित, स्त्री की स्वतंत्रता, स्त्री पुरुष संबंध, धर्म, व्यवस्था, समाज में भोग्य वस्तु के रूप में दिखने वाली महिला के तौर पर दिखती है, जो आधुनिक संदर्भ में स्त्री की दशाओं को मनोनीत करता है, नारी की अस्मिता पर प्रश्नचिह्न लगाता है। गुरु विश्वामित्र, शिष्य गालव का अपने कर्तव्य, निष्ठा, तपस्या का ढोंग, माधवी के पिता ययाति दानवीरता का ढोंग तथा ऋषि मुनि और राजा जन सभी पुरुष पात्र स्त्री भोगी तथा स्त्री को खिलौने के रूप में प्रस्तुत करते हैं। नाटक की कथा में कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि यह अपने नाटक के स्वरूप में ना हो, जिसमें कही शिथिलता के अंग नहीं दिखते। यह नाटक अपनी संपूर्णता को लिए हुए है। भीष्म साहनी माधवी नाटक के जरिए नारी की मनोदशा एवं समाज में उसकी भयावह स्थिति की झांकी प्रस्तुत करते हैं। इससे कह सकते हैं कि पौराणिक कथानक का विशेष प्रयोग से साहनी का स्त्री की अस्मिता, उसकी प्रताड़ना जो युगों-युगों से चली आ रही है, को दिखाना मुख्य उद्देश्य रहा है। समकालीन दौर में यह अपने अनूठेपन के साथ, विशेष प्रवृत्तियों को लिए हुए स्त्री विमर्श की ओर ले जाता है, जिससे आज हम भली-भांति परिचित हैं।

ये दोनों नाटक पौराणिक संदर्भ को लिए समकालीन दौर के विशेष नाटकों के रूप में उभरे हैं। सुंदरलाल कथुरिया कहते हैं कि 'समसामयिक हिंदी नाट्य साहित्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आज का नाटककार एक साथ ही बहुत कुछ कह देना चाहता है, जीवन की व्यक्तिगत समस्याएं और व्यापक राजनीतिक संदर्भ, समसामयिक नाटक में एक साथ ही अभिव्यक्ति पाते हैं। आज का नाटककार किसी एक ही बिंदु पर दृष्टि केंद्रित ना रह कर जीवन के खंड-खंड अनुभवों को वाणी देकर समग्र परिवेश को ही जैसे दर्शकों पाठकों के सामने साकार कर देना चाहता है।[4] डॉक्टर कथुरिया की बात इन दोनों नाटक में खरी उतरती है। पौराणिक कथा का आधार जो पहले के नाटकों में से धार्मिक भाव झलकता था वह एक नए रूप में दिखाई पड़ता है। शंकर शेष और भीष्म साहनी जैसे नाटककार हमारे समक्ष नाटक का एक अलग शिल्प लिए हुए हैं। पौराणिक कथा का प्रस्तुतीकरण नाटक को एक नई दिशा प्रदान करता है तथा नाटक में नई अनुभूति और नए शिल्प के साथ परिचय मिलता है।

संदर्भ

1. देवर्षि सनाढ्य- हिंदी के पौराणिक नाटक, पृ. 19। **2.** वही, पृ. 20। **3.** गिरीश रस्तोगी- हिन्दी नाटक और रंगमंच नई दिशाएं नये प्रश्न, पृ.55। **4.** सुंदरलाल कथुरिया- समकालीन हिंदी नाटक, पृ. 180।

❑❑

मनोज मल्लाह

शोधार्थी- हिंदी विभाग, तेजपुर विश्वविद्यालय,

असम-784028, मो. 8918106261,

Email- mnjmllh@gmail.com

पाकिस्तान में सार्वजनिक क्षेत्र में महिला आंदोलन

डॉ. कमला

तानाशाही, सियासत में सैनिक हस्तक्षेप और इस्लामिक कट्टरता वाले पाकिस्तान राज्य के शाथ महिला आंदोलन का संबंध परिपूरक का रहा है। महिला आंदोलन ने निसंदेह राज्य के चरित्र में ऐतिहासिक बदलाव लाया है। केवल 1977-88 के काल में महिला आंदोलन व राज्य के बीच प्रत्यक्ष द्वन्द्व संघर्ष रहा। हालांकि सहयोग का काल भी पूर्णतः विवाद रहित नहीं रहा। निसंदेह 1977 से पहले व 1988 के बाद भी संघर्ष व विवाद रहा है किन्तु क्योंकि 1977-1988 में ही राज्य द्वारा महिला उत्पीड़न अपनी चरम सीमा पर पहुँचा, इसलिए इस समय महिला आंदोलन में भी अति प्रबलता दिखाई दी। एक तरफ जहां महिला आंदोलन महिला मुद्दों को सामने ला पाने में सफल रहा, वहीं दूसरी तरफ यह आंदोलन राज्य की सीमाओं को पार नहीं कर सका तब भी इसने राज्य में बदलाव के काफी हद तक प्रयास किये। कई बार राज्य व महिला आंदोलन के आपसी संबंध समस्याग्रस्त भी हुए किन्तु फिर भी राज्य के विरुद्ध महिला आंदोलन ने पहचान की स्वयं की नई समझ को जन्म दिया।

महिलाओं को गहनता से प्रभावित किया था, जिया-उल-हक की इस्लामीकरण की नीति ने। कानून की सीमाओं का घेरा महिलाओं के चारों तरफ बनाकर जिया उल हक सरकार ने महिलाओं की सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक गतिशीलता पर प्रतिबंध लगा दिये थे। अगस्त 1988, जिया शासन की समाप्ति तक महिलाएं अपनी नागरिक स्वतंत्रता को काफी हद तक खो चुकी थी।[1] महिलाएँ अपने जीवन में बदलाव चाहती थी जिसकी उम्मीद उन्होंने जिया शासन के पश्चात आने वाली लोकतांत्रिक सरकारों से की। आने वाले सालों में महिलाओं को पाकिस्तानी समाज में अधिक एकीकृत भूमिका निभाने की जरूरत थी, उन्हें अच्छी शिक्षा ही नहीं इसके अलावा अच्छी स्वास्थ्य सुविधाएँ और अच्छे सामाजिक वातावरण की भी आवश्यकता थी।[2] इसी आवश्यकता ने महिला आंदोलन को महिलाओं हेतु राज्य के साथ दावपेच के सिद्धांतों पर चलना सिखा दिया।

समुदाय में महिला आंदोलन– समुदाय की अवधारणा जहां शहरी क्षेत्रों में अस्थिर है वहीं ग्रामीण क्षेत्रों में यह एक ठोस रूप धाारण कर चुका है। पाकिस्तान के बड़े हिस्से में लोग भौगोलिक रूप से स्थानीय मूल्यों के द्वारा एक-दूसरे से जुड़े हैं और सदियों से अपनी संस्कृति व मूल्यों को सामान्य हित के लिए एक-दूसरे से बांटते आ रहे हैं। बड़े शहरों में समुदाय की अवधारणा समस्या ग्रस्त है, शहरीकरण व प्रवासन के कारण लोगों के बोध से समुदाय का विचार धुँधला पड़ चुका है वहीं गांवों व जनजातीयों में निर्णय प्रक्रिया समुदाय के स्तर पर सम्पन्न होती है। इन जनजातीय व ग्रामीण समुदायों में कुछ मूल्य, विचार व पाबंदियां होती हैं जिनका कार्यान्वयन खास तौर से महिलाओं पर ही होता है। समुदाय के मूल्यों की इस सामूहिकता

का परिणाम है कि महिलावाद (Womanhood) का विचार समुदाय की पहचान को खटकता है। जो महिलाएं अपने जातीगत, समुदायगत मूल्यों का विरोध करती हैं उन्हें इसकी कीमत अपनी जान देकर भी चुकानी पड़ सकती है।

जब रूढ़िवादी लोग महिला के शरीर, उसकी आत्मा व उसके अधिकारों को परिवारों की इज्जत के नाम पर कुचल देते हैं तब यह समुदाय के स्तर पर भी स्वीकार्य होती है। पाकिस्तानी मानव अधिकार आयोग (HRCP) की 1998 की रिपोर्ट के अनुसार पंजाब में 888 महिलाओं की हत्या हुई जिनमें 286 महिलाएं केवल अनैतिक होने के संदेह पर मार दी गई। ब्लुचिस्तान के जनजातीय/सामंती इलाके में परिवार के सदस्य उन पुरुषों व औरतों को गैरत के नाम पर मार देते हैं जिनके अवैध संबंध हों, यह प्रथा करा-कोरी नाम से धड़ल्ले से प्रचलित है और महिलाएं ही इसका अधिक शिकार होती हैं। अमेनेस्टी इंटरनेशनल की 1998 की रिपोर्ट के अनुसार सिंध के लरकाना जिले में 1997 में 86 ऑनर किलिंग, सम्मान हेतु हत्याएं दर्ज की गई जिनमें 53 केवल महिलाओं की थी। समुदाय इन 'ऑनर किलिंग' का नैतिक व सामाजिक रूप से समर्थन करते हैं वहीं पितृसत्तात्मक राज्य भी इन्हें न रोक कर अप्रत्यक्ष रूप से इनका समर्थक है।

पुरुष प्रधान समुदाय संरचना जनजातीय व ग्रामीण पंचायत व समितियां उन लोगों को सजा सुनाते हैं जो समुदाय के आदर्शों के खिलाफ विद्रोह करते हैं। एक घटना में पंजाब के मिठान कोट क्षेत्रा में ग्रामीण समिति ने एक युवक को एक महिला का बलात्कार करने का निर्देश दिया क्योंकि महिला के पति ने युवक की पत्नी का बलात्कार किया था। 8 लोग इस जघन्य अपराध को अपनी आंखों से चुपचाप देखते रहे।[3] इसी प्रकार मुख्तरन माई का बलात्कार भी जनजातीय पंचायत के क्रूर फैसले का परिणाम था। कई घटनाओं में महिलाओं के लेन-देन या उनकी हत्या से मामला सुलझाया जाता है तो कई घटनाओं में महिलाओं को नंगा करके घुमाया जाता है। 1997 में ऐसे 54 केस लाहौर प्रेस ने दर्ज किये, किन्तु इनमें से मुश्किल से ही एकाध केस थाने में दर्ज हुआ और न ही पुलिस द्वारा इन घटनाओं की छानबीन हुई क्योंकि समुदाय के प्रतिष्ठित लोग इन कृत्यों में शामिल थे।[4]

क्या वास्तव में महिला आंदोलन ने समुदाय के स्तर पर बिचौलिये की भूमिका महिला अधिकारों हेतु निभाई है? समुदायों के द्वारा महिला शरीर व अधिकारों पर नियंत्रण ने निसंदेह महिलाओं की गतिशीलता, आंदोलन व अधिकारों को इज्जत व गैरत के नाम पर नियंत्रित किया है। महिला आंदोलन कदाचित परंपरागत सांस्कृतिक ढांचे को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं कर पाया है, जबकि कुछ छोटे कल्याण-अभिमुखी समुदाय स्तर के संगठनों ने अन्याय के विरुद्ध अवश्य ही आवाज उठाई है। किन्तु ये संस्थाएँ सीमित व स्थानीय उद्देश्यों को लेकर चलती हैं। निसंदेह महिला आंदोलन व महिला संगठनों हेतु यह मुश्किल है कि वह प्रतिदिन होने वाले प्रतिरोध को तथा ग्रामीण पक्षपाती परम्परा के विरोध में प्राप्त हुई छोटी-मोटी उपलब्धियों को संचित करे, क्योंकि विरोध का यह रूप भूगोल, संस्कृति व भाषा में विभाजित है जहाँ संचार व सूचनाओं का आदान प्रदान भी संभव नहीं हो पाता और संभवतः महिला आंदोलन को यह अहसास है कि ग्रामीण क्षेत्रों के लिए इनके जो उद्देश्य बने थे कदाचित वह उनको अपने आंदोलन का मुख्य अंग नहीं बना पाये हैं।[5]

समुदाय के स्तर पर महिलाओं के वस्तुकरण का विरोध महिला आंदोलन क्यों नहीं कर पाया इसके पीछे कई कारण रहे हैं। पहला कारण यह है कि महिला संगठनों के विरोध का मुख्य केन्द्र एक अमूर्त राज्य व उसके द्वारा निर्मित कानून व्यवस्था है न कि समुदाय कि कराकोरी, वाट्टा-साट्टा, वलवाल व ऑनर किलिंग जैसी रूढ़िगत प्रथाएं जो कथित परंपरा, मूल्यों, रीतिरिवाज व स्वदेशी संस्कृति से प्राप्त हुई हैं। इसी स्वदेशी संस्कृति का प्रभाव है जो महिला आंदोलन इन रूढ़ियों को चुनौती देने में असमर्थ रहा है। दूसरा कारण यह है कि महिला आंदोलन खासतौर पर मध्यमवर्गीय महिलाओं का आंदोलन है। वूमन्स एक्शन फोर्म (WAF) जैसी संस्थाएं इसका प्रतिनिधित्व करती हैं और इन रूढ़िगत व जनजातीय परम्पराओं से मध्यम वर्गीय

महिलाएं प्रभावित नहीं होती इसलिए प्रत्यक्ष रूप से यह आंदोलन समुदाय के स्तर पर कमजोर रहा है। तीसरा कारण संभवतः यह है कि शहरी महिलाओं का यह आंदोलन ग्रामीण स्थानीयता के विरोध में कार्यरत हैं जहां ज्यादातर परम्पराएं व प्रथाएं प्रचलित हैं। चौथा कारण यह है कि जब यह प्रथाएं व क्रूर कृत्य होते हैं तो इनकी सूचना विस्तृत क्षेत्रों में नहीं फैल पाती और यदि विरोध होता भी है तो वह छिट-फुट विरोध होता है जो बड़े स्तर पर महिला आंदोलन में शामिल नहीं हो पाता। इस तरह केवल तभी जब इन जघन्य घटनाओं का विरोध सभ्य समाज के अन्य संगठन करते हैं तब महिला संगठन भी अपनी आवाज इनमें शामिल कर देते हैं, अन्यथा समुदाय के स्तर पर महिला आंदोलन एक कमजोर बिचौलिया ही रहा है। हालांकि आज महिलाओं पर हिंसा की रिपोर्ट लगतार बड़े स्तर पर भी दर्ज हो रही हैं जो सभ्य समाज में गुणात्मक व मात्रात्मक बदलाव की प्रतीक मानी जा सकती हैं।[6]

शहनाज रौज का कहना है कि बढ़ती महिला हिंसा को देखते हुए एक तरफ जहां असंख्य समूहों का जागरूकता शिक्षा अभियान या आंदोलन पीड़ित महिलाओं को अब तक कोई सुविधा उपलब्ध नहीं करा पाया है, वहीं दूसरी तरफ जहाँ शुरू से ही जिस राज्य ने सार्वजनिक क्षेत्रों में महिलाओं को इज्जत के प्रतीक के रूप में देखा है उसी सार्वजनिक क्षेत्रों में पहले से लेकर आज तक महिलाओं के साथ शाब्दिक शोषण हुआ है और लगातार हो रही महिला हिंसाओं ने यह साबित कर दिया है कि लोगों ने महिलाओं के बदले अपनी इज्जत को ही अधिक तव्वजो दी है।[7]

राज्य के शक्ति ढांचे में महिला आंदोलन– राज्य के साथ महिला आंदोलन का संबंध बहुत ही उलझन भरा व समस्याग्रस्त रहा है। दो मुद्दे यहां खासतौर पर महत्वपूर्ण हैं। पहला तो महिला आंदोलन की राज्य व राज्य द्वारा निखमत औपचारिक राजनीतिक कानूनी ढांचे से महिलाओं हेतु सौदा करने की योग्यता तथा दूसरा पितृसत्तात्मक राज्य से महिला आंदोलन का महत्वाकांक्षी संबंध। यह बात ध्यान देने योग्य है कि पितृसत्तात्मक राज्य ने, जिसमें महिला आंदोलन जन्मा है, सदैव महिला आंदोलन की क्षमताओं को प्रभावित किया है।

मुख्यधारा की राजनीतिक दल व्यवस्था और राष्ट्रीय सरकार पुरुष के आधिपत्य में परिभाषित व पुनः उत्पादित होती आ रही है। यही कारण है कि बहुत ही कम महिलाएं इस क्षेत्र या अन्य क्षेत्रों में- मुख्यतः महिला, स्थिति सुधारने के उद्देश्य से, प्रवेश नहीं कर पाती हैं। ज्यादातर राजनीतिक दलों में महिलाएं नीति-निर्माण प्रक्रिया तक नहीं पहुंच पाती और सामान्यतः बहुत कम राजनीतिक दल महिलाओं को चुनाव में उम्मीदवार के रूप में उतारते हैं। क्योंकि यह माना जाता है कि महिलाओं का मुख्य कार्य तो घर संभालना है और राजनीति उनके बस की बात नहीं और यह प्रतिबंध व गिरावट महिलाओं का केवल सामाजिक, राजनीतिक व मानसिक शोषण ही नहीं करती बल्कि उनके राजनीतिक विकास की क्षमताओं को भी बाधित कर देती है। राजनीतिक दलों की प्रकृति, राजनीति का अपराधीकरण और भ्रष्टाचार की संस्कृति यह सभी तत्व जो सार्वजनिक जीवन का अहम हिस्सा बन गये हैं महिलाओं को सरकार के तीनों अंगों– विधानपालिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका तक पहुँचने में बाधा उत्पन्न करते हैं। महिला अधिकार संगठन खासतौर पर गैर सरकारी संगठन महिलाओं की बिगड़ती स्थिति को देखते हुए महिलाओं के राजनीतिक प्रतिनिधित्व व राष्ट्रीय नीति निर्माण प्रक्रिया में शामिल करने की पुरजोर मांग व प्रचार कर रहे हैं, क्योंकि इसी से महिलाओं के जीवन स्तर में वास्तविक सुधार हो सकता है।

पाकिस्तान की शासन व्यवस्था में लोकतंत्र का निरंतर ह्रास होता आया है व राज्य अपनी महिलाओं को पर्याप्त सुविधाएं देने में नाकामयाब रहा है। नारीवादियों का मानना है कि अब समय आ गया है यह फैसला करने का कि महिला राजनीति से बाहर रहकर पीड़ित होना चाहती है या राजनीति में प्रवेश कर स्वयं अपने लिए सुधार के प्रयास करना चाहती है। आज महिलाएं राजनीति में अपने लिए जगह चाहती हैं, उनकी मांग को हम 'राजनीतिक दल संशोधन' और 'जन प्रतिनिधित्व एक्ट' में देख सकते हैं। महिलाओं की मांग सरकार के तीनों– स्थानीय, राज्य व संघ स्तर पर

33 प्रतिशत आरक्षण की है। इस प्रकार की मांग व वार्ताओं के कारण ही राज्य स्तर पर महिला आंदोलन प्रकट हुआ है। हालांकि अभी अधिक कामयाबी नहीं मिली है पर इसकी आशा दिखाई दे रही है और यह आशा हमें सभी राजनीतिक दलों के घोषणा पत्रों में महिला मुद्दों को शामिल करने में दिखती है, यहां तक कि 'जमात-ए-इस्लामी' जैसे रूढ़िवादी दल भी अफगानिस्तान की तालिबानी सरकार की महिला विरोधी होने पर निंदा कर रहे हैं। पाकिस्तान के 'शरीरयत बिल' 15वां संशोधन की भी अनेक महिला संगठनों ने महिला विरोधी होने पर आलोचना की है।[8]

कानून के क्षेत्रों को भी महिला संगठनों व मानव अधिकार संगठनों ने अनेक सवाल उठाकर प्रभावित किया है और इसी कारण कुछ महिला समर्थक कानून निर्मित भी हुए हैं। जैसे 1961 का 'फैमिली लॉ आरडीनैन्स, किन्तु यह स्थिति 1980 में जिया-उल-हक सरकार ने अनेक महिला विरोधी कानून लाकर बदल दी।[9] इन कानूनों में 1979 का हदूद अध्यादेश, कानून-ए-शहादत किसास व दियात जैसे उत्पीड़नकारी कानून शामिल थे।[10] इनके विरोध में निरंतर महिला संगठनों ने प्रचार किया किन्तु सरकार स्वयं इन कानूनों की समूल समाप्ति नहीं चाह रही थी। इस पर कई गैर सरकारी संगठनों, शिरकत गाह आदि ने ग्रामीण व शहरी इलाकों की महिलाओं में कानूनी जागरूकता लाने के प्रयास किये और संबंधित कार्यक्रमों में यह कहा गया कि ये कानून पाकिस्तान में धर्म की आज्ञाओं के अनुरूप नहीं हैं और सांस्कृतिक मूल्यों का शोषण कर रहे हैं। महिला आंदोलन ने इन कानूनों का मौलिक रूप से अन्यायपूर्ण कह कर प्रदर्शन किया और कानूनी मुद्दों को सफलतापूर्वक कटघरे में लाकर खड़ा कर दिया, किन्तु कोई प्रासंगिक महिला आंदोलन प्रगति नहीं कर पाया।[11]

राज्य द्वारा महिला उत्पीड़न को महिला आंदोलन ने बहुत ही चयनित रूप से चुनौती दी। पुलिस के जवानों द्वारा महिलाओं का हिरासतीय बलात्कार और पुरुष प्रधान न्यायपालिका का महिलाओं को न्याय देने से इन्कार करना, ऐसे मुद्दों पर महिला आंदोलन ने बहुत कम ध्यान दिया। हिरासतीय बलात्कार यहां बड़े स्तर पर हो रहा है क्योंकि पुलिस स्वयं इसमें शामिल है इसलिए रिपोर्ट भी बड़े स्तर पर दर्ज नहीं हो पा रही है। जैसे 1998 में महिला हिंसा के केवल 41 केस ही दर्ज हुए और अन्य बहुत सी हिंसाओं पर महिलाओं ने चुप्पी साध ली जो समस्या बढ़ाने वाला तथ्य था। न्याय में अधिक धन खर्ची और न्याय मिलने में देरी व न्यायिक क्षेत्रों में महिलाओं के सम्मान को ठेस पहुंचाना इन सभी कारणों ने पीड़ित महिलाओं को न्याय प्राप्त नहीं करने दिया। इन मुद्दों पर महिला आंदोलन सचेत तो है पर जो थोड़ी बहुत गतिशीलता दिखी वह अपर्याप्त है।[12]

राज्य के साथ महिला आंदोलन के संबंध महत्वाकांक्षी रहे हैं। महिलाओं ने राज्य को सदैव सामाजिक बदलाव लाने वाले एक दूरतम पहलकर्ता, प्रबंधक व न्यायाधीश के रूप में देखा है और लगातार समाज द्वारा मान्य मूल्यों में समय के साथ सामाजिक बदलाव की मांग की है, जिससे वृहत रूप में महिला जीवन स्तर में सुधार हो सके। साथ ही महिला आंदोलन ने राज्य के उस दुष्कर्मी रूप को भी समझ लिया है जो महिला शोषण को बढ़ाने वाली हानिकर नीतियों का समर्थक है और इन्हें बनाए रखना चाहता है। महिला आंदोलन का सामान्य विचार यह है कि राज्य एक कृत्रिम संस्था है जहां महिला शोषण लगातार बना हुआ है और जो पहचान की जटिल राजनीति का सूचक है। अतः महिला आंदोलन राज्य से अलग अपनी पहचान बनाना चाहता है जो महिलाओं के लिए हितकर हो।[13]

संक्षिप्त में हम कह सकते हैं कि राज्य के साथ महिला आंदोलन का संबंध परिपूरक का रहा है। महिला आंदोलन ने निसंदेह राज्य के चरित्र में ऐतिहासिक बदलाव लाया है। केवल 1977-88 के काल में महिला आंदोलन व राज्य के बीच प्रत्यक्ष द्वन्द्व व संघर्ष रहा। हालांकि सहयोग का काल भी पूर्णतः विवाद रहित नहीं रहा। निसंदेह 1977 से पहले व 1988 के बाद भी संघर्ष व विवाद रहा, किन्तु क्योंकि 1977-1988 में ही राज्य द्वारा महिला उत्पीड़न अपनी चरम सीमा पर पहुँचा, इसलिए इस समय महिला आंदोलन में भी अति प्रबलता प्रदर्शित हुई। एक तरफ जहाँ महिला आंदोलन महिला-

मुद्दों को सामने ला पाने में सफल रहा है वहीं दूसरी तरफ यह आंदोलन राज्य की सीमाओं को पार नहीं कर सका, तब भी इसने राज्य में बदलाव के काफी हद तक प्रयास किये। कई बार राज्य व महिला आंदोलन के आपसी संबंध समस्याग्रस्त भी हुए किन्तु फिर भी राज्य के विरुद्ध महिला आंदोलन ने पहचान की स्वयं की नई समझ को जन्म दिया।[14]

संदर्भ

1. अनीता एम. वैस, द स्टेटस ऑफ वूमन साइटिड इन चार्ल्स एच कैनेडी एण्ड रशूल बक्श एडीटिडद्ध पाकिस्तान, बाउफलडर, वैस्ट व्यू प्रेस, 1995, पृ.49। **2.** अनीता एम. वैस, पाकिस्तानी वूमन साइटिड इन द 1980 एण्ड बियोण्ड, इन कैग बैक्स्टर एण्ड सईद रजी वरती, एडीटिडद्ध पाकिस्तान एथोरीटेरीयनीइज्म इन 1980 कराची, वेनगार्ड, 1991, पृ. 147। **3.** अमनेस्टी इंटरनेशनल वूमन इन पाकिस्तान : डिसएडवान्टेज एण्ड डिनायड वेयर राईटस न्यूयार्क, 1905, पृ. 16, ऐक्सैस्ड एट-web.amnesty.org/library / index/ENGASA 33023 1995-101k. **4.** ह्यूमन राईटस कमीशन ऑफ पाकिस्तान स्टेट ऑफ ह्यूमन राईटस् 1997, लाहौर 1998, पृ.221। **5.** फरजाना बरी एण्ड सबा गुल खटक पॉवर कोन्पफीमुरेशन इन पब्लिक एण्ड प्राइवेट एरीना द वूमन्स मूवमेंट साइटिड इन अनीता एम वैस, जुल्फिकार गिलानी, एडीटिव पॉवर एण्ड सिविल सोसायटी इन पाकिस्तान ऑक्सफोर्ड ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2001 पृ. 231। **6.** वही पृ. 231-232। **7.** शहनाज रोज, दा आउटसाइडर विदहीन : सोवरैन्टी एण्ड सीटीजनशिप इन पाकिस्तान, गैर सरकारी संगठन साइटिक इन पेट्रीशिया जैपफरी एण्ड अमृता बासु, एडीटिड एप्रोप्रियेटिंग जैंडर : वूमन्स एक्टीविज्म एण्ड पोलिटीसाइड रीलिजन इन साउथ एशिया, न्यूयार्क राउफटलेज, 1998, पृ. 61। **8.** फरशाना बरी एण्ड सबा गूल खटक, वही, पृ. 233-234। **9.** फरशाना बरी एण्ड सबा गूल खटक, पृ. 234। **10.** कंवर मुमताज, फरीदा शाहिद वूमेन्स ऑफ पाकिस्तान टू स्टैप्स फॉरवर्ड वन स्टैप बैक, लंदन, जेड, 1987 पृ. 226-228। **11.** फरजाना बरी एण्ड सबा गुल खटक, वही, पृ. 234। **12.** वही, पृ. 234। **13.** फरजाना बरी एण्ड सबा गुल खटक, वही. पृ. 234-235। **14.** वही, पृ. 235-236।

❐❐

सहायक प्राध्यापक,
श्रीगुरुनानक देव खालसा कॉलेज
राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
मो. 8742989292

स्वच्छता आंदोलन के प्रेरक डॉ. विंदेश्वर पाठक

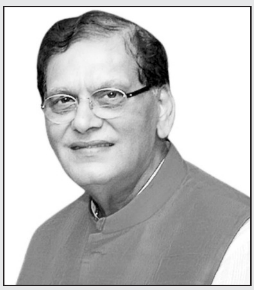

किसी समय घरों में शौचालय नहीं रखा जाता था। पुरुष-महिलाएं खुले में शौच जाते थे अथवा मैला भंगी सिर पर ढोते थे। इसके विरुद्ध 2 अप्रैल 1943 को बिहार में जन्मे डॉ. विंदेश्वर पाठक (पद्मविभूषण) ने सुलभ-शौचालय की क्रांतिकारी पहल की जिसने पूरे देश में अद्भुत सफलता प्राप्त की। अछूत मैला ढोने से मुक्त हुए तो दूसरी ओर समाज में स्वच्छता को लेकर जागरूकता का प्रचार हुआ, शौचालयों का निर्माण होने लगा। डॉ. पाठक ने सुलभ-शौचालयों के साथ-साथ सुलभ बायोगैस प्लांट, गंदे पानी के उपचार, स्वच्छता प्रौद्योगिकी, सुलभ पब्लिक स्कूल, सुलभ प्रशिक्षण केंद्र, सुलभ सैनिटेशन क्लब, सुलभ पेयजल तकनीक जैसे कार्यक्रम चलाये। 80 वर्ष की अवस्था में 15 अगस्त को डॉ. पाठक का देहांत हो गया। स्वच्छ भारत के निर्माण में इनका योगदान सदा स्मरणीय रहेगा।

अहिल्या मिश्र की आत्मकथा : संघर्ष की कहानी

अपर्णा भारती

हिन्दी में स्त्रियों द्वारा आत्मकथा लिखने की शुरुआत जानकी देवी बजाज से मानी जाती है जिन्होंने सन् 1956 में 'मेरी जीवन यात्रा' लिखी है। तत्पश्चात् कौशल्या बैसंत्री, मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान, रमणिका गुप्ता, सुशीला राय, मन्नू भंडारी, कृष्णा अग्निहोत्री, सुशीला टाकभौरे, अमृता प्रीतम, पद्मा सचदेव, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, निर्मला जैन, कौसल पंवार, रजनी तिलक, कमल कुमार, कुसुम अंसल आदि महिलाओं ने अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से अपना जीवन संघर्ष एवं वैचारिकता को व्यक्त किया है। डॉ. साधना अग्रवाल आत्मकथा के विषय में अपने विचार इस प्रकार रखती हैं– 'आत्मकथा लिखने की शर्त है ईमानदारी के साथ सच के पक्ष में खड़े होना और सफलताओं-असफलताओं का निर्ममता पूर्वक पोस्टमार्टम करना'[1] इस दृष्टि से अहिल्या मिश्र का स्थान उल्लेखनीय है।

16 सितम्बर 1948 को बिहार, जिला मधुबनी के सागरपुर गाँव में जन्मीं अहिल्या मिश्र जी हिन्दी-सेवी लेखिकाओं में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इनके पिता स्वर्गीय श्री रामानंद मिश्र स्वतंत्रता सेनानी थे और माता स्वर्गीय श्रीमती लक्ष्मी देवी एक सरल, मृदु गृहणी एवं ममतामयी मां थी। अहिल्या जी सादा जीवन एवं उच्च विचार वाली स्त्री हैं। इनका विवाह मात्र सोलह वर्ष की आयु में श्री आर.डी. मिश्र के साथ गांव जानीपुर, मुजफ्फरपुर में सम्पन्न होता है। इन्हें एक पुत्र की प्राप्ति होती है जिसका नाम इन्होंने मानवेन्द्र रखा। तत्पश्चात वे उच्च शिक्षा ग्रहण करती हैं- बी.ए.बी.एड., एम.एड., एम.ए एवं पीएच.डी कर डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त करती हैं और फिर समाज सेवा एवं लेखन में प्रवृत्त हो जाती हैं। इनकी मातृभाषा मैथिली है, परंतु इन्होंने हिन्दी भाषा में कविता, निबंध, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचनात्मक पुस्तकें, आत्मकथा आदि साहित्यिक विधाओं में अपनी लेखनी चलाई है।

अहिल्याजी की आत्मकथा 'दरकती दीवारों से झांकती जिन्दगी' के अनुसार इनका बचपन एक साधारण बच्चे की भांति लड़के-लड़की के भेदभाव के बीच व्यतीत होता है। एक नारी का अपने जीवन से संघर्ष उसकी किशोरावस्था से उसके स्वयं के घर और आस-पड़ोस से ही शुरू हो जाता है। इनको भी किशोरावस्था में बचपन की शरारतें, उछल-कूद छोड़ने की सलाह यह कहकर दी जाती है कि लड़की हो तो लड़कियों जैसा ही व्यवहार किया करो। लेखिका के शब्दों में मेरी दूर के रिश्ते की मांसी सागरपुर में ब्याही थी। आरम्भ में ही विधवा हो गई थी। उनकी एक बेटी थी। उनको हमारी चुहलबाजी नहीं पसंद आती, वे बहुत नाराज़ होकर अपशब्द कहने लगती थीं। गोपालपुर वाली दाई भी हमेशा डांटती कि बड़ी हो रही हो, बेटी हो तो बेटी बन कर रहो।[2] हमारा समाज पितृसत्तात्मक एवं पुरुष वर्चस्ववादी है। महिलाओं को पुरुषों के आदेशानुसार अपना जीवन व्यतीत करने को विवश किया जाता है। उसकी विवाह करने की इच्छा जाने बिना ही कहीं

भी उसका विवाह करा दिया जाता था। अहिल्या जी का मात्र साढ़े पंद्रह वर्ष की आयु में उनके पिता द्वारा रिश्ता कर दिया जाता है। अपने पिता से कुछ भी नहीं कह पाती हैं, परन्तु भीतर से घुटन महसूस करती हैं। विवाह के प्रति उनकी अनिच्छा इन शब्दों में व्यक्त होती है– 'आज भी लोग कहानी की तरह सुनाते हैं कि कैसे मैं परीक्षा देकर घर आई और गांव की स्त्रियां जमा होकर बेटी विवाह का गीत गा रही थीं तो मैंने क्रोध से भड़कते हुए कहा था कि यहां कौन मर गया है जो यहाँ यह रोना-धोना मचा हुआ है।[3] शादी के पश्चात् वह अपने मायके में अपने पुत्र मानवेन्द्र को जन्म देती हैं। उन्हें मां बनने की अपार प्रसन्नता होती है, लेकिन कम उम्र एवं टिटनेस होने से नवजात शिशु की देखभाल ठीक से नहीं कर पाती हैं। उन्हीं के शब्दों में- 'भयानक बीमारी से पीड़ित एवं बेहोश होकर बड़बड़ाती हुई बिस्तर में 10 दिनों तक पड़ी रही थी। डॉक्टर के अथक प्रयास से मैं बचा ली गई। मात्र साढ़े सोलह वर्ष की उम्र में मैं माँ बन चुकी थी। अतः शारीरिक अपरिपक्वता एवं कमजोर सेहत के कारण अपने को ही संभाल पाना कठिन था।[4] शिक्षा एकमात्र ऐसा हथियार है जिसके बल पर मनुष्य दुनिया को बदलने की क्षमता रखता है। परन्तु भारतीय समाज में विवाह पश्चात् पढ़ाई करना अधिकांश औरतों के लिए चुनौती भरा है। अहिल्या जी बीच में छूटी पढाई पूरी करने के लिए अपनी दादी को साथ लेकर दरभंगा में रहती हैं। उनके पति भी साथ रहकर पढ़ाई करते हैं। भविष्य से चिन्तित होकर एवं वर्तमान में संघर्ष से जूझते हुए पति को हैदराबाद नौकरी करने भेज देती हैं और स्वयं ससुराल चली जाती हैं। अपने दादा ससुर से बी.ए परीक्षा का फार्म भरने के लिए पैसे मांगने पर वह इंकार कर कहते हैं– 'हमारे घर की बहुएं कोठी लेबने और घर का हिसाब-किताब रखने का कार्य करती हैं। आई.ए. या बी.ए. कर अंग्रेजी फारसी नहीं बघारती और न ही उन्हें नौकरी की कोई आवश्यकता होती है। आपको अब पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। यहां अपने घर में सुख-शांति से रहिए।[5] लेकिन अपनी स्नातक की पढ़ाई पूर्ण करने के लिए वे जिद कर पुनः दरभंगा लौट जाती हैं।

पढ़ाई पूरी कर अहिल्या जी फैक्ट्री में महिला सुपरवाइजर की नौकरी करने लगी तो लोगों की तरह-तरह की बातें सुननी पड़ती। उन्हीं के शब्दों में– 'मैं जिस कंपाउंड में रहती थी उसमें अधिकतर स्त्रियां बाहर यानी उत्तरप्रदेश की रहने वाली थीं। वहां उत्तर भारतीय लोगों का जमावाड़ा था। उनके बीच रहने के कारण मैं नौकरी करने लगी तो उन लोगों के द्वारा कसे हुए फब्बतियों से मिश्राजी (पति) उद्विग्न हो उठते थे। मेरे निवास स्थान के पास अधिकतर राजपूत जाति के लोगों की भरमार थी। वे अपनी पत्नियों को घर में बिठाकर रखते थे। अकेले मैं नौकरी करती थी।[6] 'बच्चू गुप्ता जो हैदराबाद के ब्रांच का इंचार्ज एवं मालिक भी था बैठा हुआ था। गुड्डू खेलता हुआ बच्चों के साथ लारी में चढ़ गया और चाबी लगा देखकर उसे घुमा दिया। गाड़ी ने सीधे जाकर बड़े स्टोर के दीवार को टक्कर मार दी और रुककर गुर्राने लगी। ड्राइवर एवं बच्चू गुप्ता दौड़ते हुए पहुंचे, गुप्ता ने गुड्डू को गाड़ी से उतार कर दो थप्पड़ जड़ते हुए कहा, ये गाड़ी न तेरी है न तेरे बाप की है। आज के बाद तुमने इसे छुआ तो तेरा हाथ तोड़ दूंगा।'[7] इससे आहात होकर वह प्रण करती हैं कि चाहे जितना संघर्ष करना पड़े, चूकेंगी नहीं और सब कुछ अपने बच्चे के लिए अवश्य जुटाएंगी। नौकरी करते हुए वह बी.एड. कर लेती हैं और मीटर फैक्ट्री की नौकरी छोड़कर एक विद्यालय में मात्र 100 रुपए की नौकरी चुन लेती हैं। जहाँ वे रहते थे वहां से विद्यालय दूर था। वह लिखती हैं-'मैं प्रतिदिन एक चवन्नी की बचत हेतु एर्रागड्डा से पैदल चलते हुए सनतनगर स्टेशन के पीछे के हिस्से से निकलती, जो करीब तीन किलोमीटर का रास्ता था इसे तय करके बोइनपल्ली का बस लेती थी। वहां से विद्यालय पहुँच कर अपना कार्य ईमानदारी से निभाया करती।[8] अहिल्या मिश्र जी अपने आत्मकथ्य में लिखती हैं कि उन्हें अपना स्वयं का मकान खरीदने के लिए बहुत कठिनाइयों को सहन करना पड़ा, पैसों की कमी होने के कारण सगे-सम्बन्धियों से पैसे लेती हैं। वह पैसों के लिए उन्हें तंग करने लगते हैं। पैसे लौटाने के लिए वह बेटे को पति के पास छोड़कर अरुणाचल प्रदेश में अध्यापिका की नौकरी चुनती हैं। नौ माह नौकरी कर हैदराबाद लौट आती हैं। लेखिका शब्दों में– 'वहां से आने के बाद मैंने सभी कर्जदारों को

बुलाकर सारा ऋण चुकता किया। वहां मेरा नौ माह का वेतन मेरे खाते में जमा था। वहां मेरी कोई इच्छा थी ही नहीं, बस, पैसे चुकता होने थे, मैं जैसे तैसे हॉस्टल के खाने खाकर कर लेती। स्वयं साथ लाई साड़ियों से ही समय काटना तय किया था, गर्म कपड़े उन्होंने खरीद कर साथ दे दिए थे। अतः मेरा कोई खर्चा नहीं था। ना ही कोई मेरा निजी व्यय था।[9] आज के युग में व्यक्ति द्वारा मुश्किलों से बाहर निकलने की कोशिश करने पर दूसरों को इर्ष्या होने लगती है, ऐसा ही अहिल्या जी के पति के साथ होता है। स्वयं का मकान खरीद लेने से जहाँ वह काम करते थे वहां सब कर्मचारी उनके खिलाफ हो गए। आत्मकथाकार के शब्दों में– 'शायद हमारी कठिनाईयों में अभी कोई कमी नहीं आनी थी। मिश्रा जी के लिए हमारा अपना घर खरीदना ही सिरदर्द का कारण बन गया। मालिक के आस-पास के कर्मचारी इनसे इर्ष्यावश उल्टा-सीधा बोलने एवं मालिक का कान भरने लगे। फलतः मालिक के मन में भी इनके प्रति दुराव आ गया।[10] जीवन में अनेक उतार-चढ़ावों के पश्चात् अहिल्या जी की नौकरी सरकारी विद्यालय नवजीवन में लगती है जहां भी उन्हें अपने उत्साही एवं कर्मठ स्वभाव के कारण मुश्किलों का सामना करना पड़ा। कुछ आफतें उन्हें चारों ओर से घेरे हुए थी परन्तु एक बड़ी मुश्किल उनके सामने खड़ी हो गई जो उन्हें बहुत गहरी चोट पहुंचाती है। होता यह है कि मानवेन्द्र का मित्र उसकी आँख में गोली मार देता है। गोली आँख के अंदर से होते हुए दिमाग से कुछ मिलीमीटर की दूरी तक पहुँच गई थी जिससे आँख से बहुत खून बह गया। बेटे की इस हालत से अपने होश खो बैठती हैं। डॉक्टर के कहने पर भी दिमाग के आपरेशन के लिए नहीं मानती। उन्हीं के शब्दों में 'एक माँ पर जो बीता वह बीतता ही रहा। एक आशामयी स्त्री ने भी इसे भोगना शुरू कर दिया। बच्चे के हर कदम के साथ एक डर-भय मिश्रित आवेश उसके श्वासों के अंग बन गए। आज भी उन क्षणों को याद कर मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मैं कभी भी आस्तिक नहीं थी। किन्तु इस घटना ने मुझे आस्तिकता की कोह में डालकर भीरू बना दिया।[11] आपरेशन न कराने से मानवेन्द्र की दाहिनी आँख की रोशनी चली जाती है और तीन महीने तक बिस्तर पर रहता है, परन्तु माता-पिता के अथक प्रयासों से ठीक हो जाता है।

आत्मकथा में अहिल्या जी जीवन भर संघर्षों से जूझते हुए दिखाई देती हैं। अधेड़ावस्था में उनके पति का ब्रेन हेमरेज हो जाता है। दो महीने इलाज के दौरान अस्पताल में रहकर व्हील चेयर पर बैठने लगते हैं। लेखिका के शब्दों में-'कृत्य संकल्प होना अलग एवं मजबूत बात है। मैं अपने पति के प्रति उनके स्वास्थ्य एवं जिजीविषा को बनाए रखने हेतु कृत्य संकल्प थी। वैसे महिने बीत जाने के कारण एवं एक सा वातावरण में एक अप्रत्यक्ष तनावयुक्त जीवन जीते रहने से मुझे इसकी आदत सी पड़ गयी थी।[12] इसी बीच वह स्वयं भी कैंसर जैसी गम्भीर बीमारी से ग्रस्त हो गई। बांह के नीचे बनी गाँठ के आपरेशन के बाद कीमोथेरेपी से उनकी बीमारी का इलाज तो गया, परन्तु पति की मृत्यु का उन्हें गहरा सदमा पहुंचता है– 'कब चूड़ी टूटी या तोड़ी गई, शृंगार के सारे आभूषण उतारे गए, पता ही नहीं चला। बस चलते-चलते जैसे फिल्म की रील कट जाए ऐसी स्थिति ही दिखी, काश... कि...। यह काश ही मेरे होश की दवा हो सकती थी।[13]

आत्मकथा 'दरकती दीवारों से झांकती जिंदगी' से अहिल्या मिश्र जीवन भर संघर्ष करने वाली स्वाभिमानी, उत्साही एवं निर्भीक स्त्री विदित होती हैं। वह जीवन में विपरीत परिस्थितियों से हार नहीं मानती और निरन्तर गतिशील रहती हैं। उनकी आत्मकथा न केवल उनके व्यक्तिगत जीवन-सन्दर्भों का उल्लेख करती है, बल्कि आजीवन संघर्ष करने वाली और अपनी अस्मिता को बचाए रखने वाली हर स्त्री की कहानी बन गई है।

सन्दर्भ

1. bandanaclasses.com83, **2.** मिश्र अहिल्या, दरकती दीवारों से झांकती जिंदगी, गीता प्रकाशन, 2021, पृष्ठ 73। **3.** वही. पृष्ठ 81। **4.** वही, पृष्ठ 98। **5.** वही, पृष्ठ 118। **6.** वही, पृष्ठ 122। **7.** वही, पृष्ठ 125। **8.** वही, पृष्ठ 133। 9. वही, पृष्ठ 168-169। **10.** वही, पृष्ठ 173। **11.** वही, पृष्ठ 178। **12.** वही, पृष्ठ 289। **13.** वही, पृष्ठ 323।

❏❏

शोधार्थी, C/o. प्रो. रूबी जुत्शी
कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर।
bhartiaparna@gmail.com , मो. 8899315097

लोक संस्कृति संग्रहालय, भीमताल : लोक जीवन का संरक्षण स्थल

विदुषी

आज के तकनीकी युग में द्रुतगामी जीवन और उत्तरदायित्व के मध्य सामंजस्य स्थापित करते हुए मनुष्य उन परम्पराओं और मूल्यों को समय नहीं दे पा रहा जो सदियों से हमारे धर्म और दैनिक चर्या के अभिन्न अंग रहे, जिन्हें सम्मिलित रूप से संस्कृति कहा जाता है। संस्कृति के तत्व जो आंशिक या नगण्य स्थिति में हमारे समाज व जीवन में परिलक्षित होते जा रहे हैं, उन्हें दीर्घजीवी और अविस्मरणीय बनाने का कार्य कर रहा है भीमताल का लोक संस्कृति संग्रहालय। इस संग्रहालय में लोक संस्कृति संबंधित कलाएं जैसे- ऐपण, बारबूंद, ज्योंति, पट्टा, काष्ठ शिल्प के नमूने, वस्त्र, बर्तन, वाद्ययंत्र के साथ-साथ जनजातीय जीवन की झलक देखने को मिलती है। यहां उपलब्ध प्राचीन जीवाश्म, पाषाण उपकरण, गुफा चित्र, पाण्डुलिपियां आदि ऐतिहासिक महत्व को समाहित किए हुए हैं। लोक संस्कृति संग्रहालय निश्चित ही ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आयामों को संजोए है जो वर्तमान पीढ़ी के साथ-साथ आने वाली पीढ़ियों के लिए भी मार्गदर्शक होगा।

प्राचीनतम सभ्यता के लिए प्रसिद्ध भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विविध भाषा-बोलियां, आचार-विचार, मूल्य-परम्परा, रहन-सहन एवं धार्मिक विश्वासों का प्रचलन रहा है। किसी भी क्षेत्र के इन समस्त आयामों को ही सम्मिलित रूप से उस क्षेत्र विशेष की संस्कृति कहा जाता है, ऐसी ही एक प्रतिष्ठित पुरातन संस्कृति है 'कुमाउँनी संस्कृति', जो देवभूमि उत्तराखण्ड के कुमाउँ मण्डल से सम्बन्ध रखती है परन्तु अन्ध-आधुनिकता व पर्वतीय क्षेत्रों से पलायन जैसे कारकों के दुष्प्रभाव से यह संस्कृति भी अछूती नहीं रही, ऐसे में संस्कारों के संरक्षण की आवश्यकता स्वउत्पन्न होती है, जिसकी परिणति है यह **लोक संस्कृति संग्रहालय।**

भारत में संग्रहालयों का इतिहास अंग्रेज़ी शासनकाल से प्रारम्भ होता है और वर्तमान में देश के लगभग सभी प्रमुख नगरों-जिलामुख्यालयों में राजकीय संग्रहालय हैं तथा साथ ही कई निजी संग्रहालय भी हैं जो अपने में इतिहास, शिल्प, सभ्यता को संरक्षित किए हैं। इनमें कुछ विशेष रूप से किसी क्षेत्र विशेष के इतिहास, कला, संस्कृति तथा जन-जीवन से सम्बन्धित प्रतीकों, चिह्नों एवं स्वरूपों को भविष्य हेतु जहां सुरक्षित रखा जाता है उन्हें सांस्कृतिक संग्रहालय कहा जाता है। सांस्कृतिक संग्रहालय की श्रेणी में निजी प्रयास है-लोक संस्कृति संग्रहालय, भीमताल इसकी स्थापना पद्मश्री यशोधर मठपाल जी द्वारा 1983 में भीमताल में की गयी। यह संग्रहालय उत्तराखण्ड के कुमाऊँ मण्डल में नैनीताल जिले के भीमताल क्षेत्र में स्थित है और सोसाईटी पंजीयन कानून 1860 के अन्तर्गत पंजीकृत है। यह संग्रहालय इतिहास, कला एवं संस्कृति को समर्पित है।

संस्कार एवं संस्कृति दोनों अन्तर्निहित है। संस्कारों की उपस्थिति ही मनुष्य को सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाती है। जिसमें धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। धार्मिक विश्वासों एवं मूल्यों की

दैनिक जीवन में पुनरावृत्ति ही परम्परा का रूप लेती है और इन समृद्ध प्रथाओं का अवसरों के अनुकूल नियमित निर्वहन ही उस लोक जीवन की संस्कृति बन जाता है। ऐसी ही विशिष्टताओं को समाहित किए है कुमाउँनी संस्कृति। कुमाऊँनी जन-जीवन में धर्म का स्थान उत्तराखण्ड के चार धामों के परिप्रेक्ष्य में स्वयं सिद्ध है। साथ ही पुराणों में मानसखण्ड या कूर्मांचल के रूप में कुमाऊं का उल्लेख इसकी ऐतिहासिकता को भी स्पष्ट करता है। कुमाऊं का लोक जीवन पौराणिक एवं सांस्कृतिक महत्व को आत्मसात किए है। किसी भी संस्कृति के संस्कारों का पालन कलात्मक अभिव्यक्ति से ही सम्भव है जिसे कुमाऊँनी लोक कला ऐपण के रूप में जाना जाता है।

लोक संस्कृति संग्रहालय में ऐपण के विविध प्रकारों व स्वरूपों को संरक्षित किया गया है जो प्राचीनकाल से कुमाउँ जन-जीवन के संस्कारों के अनुरूप पारम्परिक तौर से आलेखित किए जाते रहें हैं परन्तु वर्तमान में पर्वतों से युवाओं के पलायन, आधुनिकता की होड़ तथा समयाभाव आदि कारणों से कुमाऊँनी लोक जीवन से विलोपित होते जा रहे हैं। कुमाऊँ में विशेष अवसरों जैसे-संस्कार, व्रत-त्यौहार आदि के अनुकूल ऐपण निर्माण की परिपाटी का अत्यन्त धार्मिक एवं आध्यात्मिक महत्व रहा है जो संस्कृति संग्रहालय की लोक कला दीर्घा में संकलित हैं, यहाँ संग्रहित ऐपण में विविध पीठ एवं चौकियों को सम्मिलित किया गया है, जिनमें विभिन्न श्रेणियों के ऐपण संकलित हैं जो निम्नलिखित हैं :-

देव पूजन हेतु पीठ अथवा चौकियां– देव पूजन के समय देवताओं को पूजा स्थान पर चौकी, आसन अथवा पीठ प्रदान करने की परम्परा है। जिसके निमित्त ऐपण का निर्माण किया जाता है। इस वर्ग की निम्न चौकियां संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

1. सरस्वती पीठ– भारतीय संस्कृति में बालक के अनक संस्कारों में से एक है अक्षरारम्भ। बालक को सर्वप्रथम अक्षर लेखन का ज्ञान देने के लिए कुमााऊं में माता सरस्वती के पूजन का विधान रहा है, जिसके लिए पूजा स्थल पर सरस्वती पीठ का रेखांकन करने की परम्परा रही है। संग्रहालय में प्रदर्शित सरस्वती पीठ में त्रिभुज इस प्रकार आलेखित है कि पाँच कोण निर्मित हो सकें जो परस्पर रेखाओं से जुड़े हैं और इन कोणों के मध्य स्थान पर स्वास्तिक चिह्नित हैं। कुमाऊं में सरस्वती पीठ निर्माण का प्रचलित आध्यात्मिक पक्ष यह रहा है कि इसमें त्रिभुज शक्ति के केन्द्र के रूप में आलेखित किया जाता है। जिसमें शक्ति केन्द्र से बाहर की ओर प्रवाहित होती है अतः पीठ के केन्द्र में स्वास्तिक की उपस्थिति 'श्री' को सभी दिशाओं में प्रसारित करती है।

2. लक्ष्मी पीठ– कुमाऊं में दीपावली के शुभ अवसर पर इस पीठ के आलेखन की पुरातन परम्परा है। लक्ष्मी पीठ में अष्टदल कमल एवं लक्ष्मी पौ को निर्मित किया गया है, यह लक्ष्मी पौ बाहर से केन्द्रोन्मुख अंकित हैं।

लक्ष्मी पीठ के सन्दर्भ में लोक प्रचारित तथ्यों के अनुसार दीपावली के अवसर पर इस पीठ के आलेखन से समस्त दिशाओं से आकर माँ लक्ष्मी केन्द्र में विराजमान होंगी और हमें अपने आशीष से अनुग्रहित करेंगी।

3. शिव पीठ– इस पीठ का निर्माण शिवार्चन के अवसर पर करने की प्रथा है। यह 12 गुणा 12 बिन्दुओं के विशेष संयोजन से आलेखित है, जो छोटी रेखाओं से जुड़े हैं। इसमें दिशाओं पर त्रिशूल स्थापित हैं। उक्त पीठ के सम्बन्ध में आध्यात्मिक मान्यता है कि यह सम्पूर्ण रचना, सृष्टि का प्रदर्शन है और मध्य के चार बिन्दु धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का प्रतीक हैं। शिवार्चन से सर्वग्रह शान्ति, कल्याण, सिद्धि, कष्टों का निवारण तथा सुख-समृद्धि की प्राप्ति की जा सकती है।

4. सप्तर्षि पीठ– कुमाऊँनी लोक जीवन में जनेऊ अथवा उपनयन संस्कार में सप्तर्षि पीठ का अंकन किया जाता है जो एक वृहद षटकोण के भीतर सात तारों द्वारा निर्मित है। यह सप्ततारा मण्डल सप्तऋषियों अत्रि,

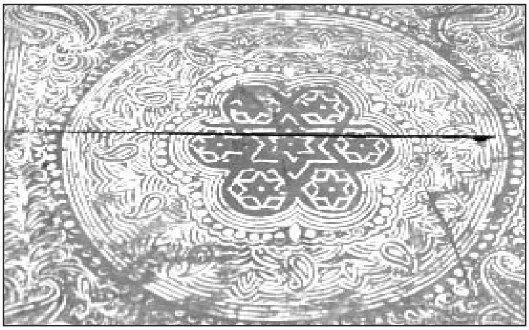

कश्यप, भारद्वाज, गौतम, जमदग्नि, विश्वामित्र तथा वशिष्ठ से सम्बन्धित है। जनेऊ पीठ माँ गायत्री को समर्पित होने के कारण अत्यन्त पवित्र है। कुमाऊँ की मान्यता में यज्ञोपवीत संस्कार के अवसर पर बालक के लिए जो चोला सिला जाता है उस चोले की पीठ पर इस ऐपण का आलेखन होना चाहिए जिससे बालक सकारात्मक ऊर्जा का आशीष प्राप्त कर सके।

देव पूजन सम्बन्धी अन्य चौकियां जो दीर्घा में समायोजित हैं उनमें हैं सर्वतोभद्र, दुर्गा आदि।

साधना अथवा उपासना चौकी– साधना चौकी का प्रयोग पूजा के समय आचार्य अथवा पूजक को आसन देने के लिए किया जाता है, उक्त श्रेणी के निम्नांकित ऐपण संग्रहालय में प्रदर्शित हैं।

1. आचार्य चौकी– संग्रहालय में धार्मिक ऐपण के साथ ही विवाह के अवसर पर उकेरी जाने वाली आचार्य चौकी को उपासना चौकी की श्रेणी में संकलित किया गया है। आचार्य चौकी के केन्द्र में स्वास्तिक अंकित है और ऊपर के दोनों कोनों में सूर्य व चन्द्रमा तथा नीचे के दोनों कोनों में शंख व घंटी चित्रित की गयी है। इस ऐपण पर लकड़ी की चौकी रखकर विवाह संस्कार सम्पन्न कराने आये आचार्य का स्वागत करने की परम्परा कुमाऊं समाज में रही है। आचार्य चौकी में रेखांकित चिह्नों के पीछे लोक प्रसिद्ध धारणा है, जैसे स्वास्तिक कर्म योग का प्रतीक है जो चारों दिशाओं का प्रतिनिधित्व करता है वहीं सूर्य एवं चन्द्रमा दिन-रात अर्थात समय के प्रतीक हैं, बैकुंठ की आकृति शंख जैसी मानी जाती है अतः बैकुंठ जैसी शान्ति एवं सम्पन्नता की इच्छा से शंख को आलेखित किया जाता है, वहीं घंटी की ध्वनि वातावरण को शुद्ध करती है जिस कारण शुभ कार्यों में घंटी का प्रयोग अनिवार्य माना जाता रहा है।

2. धूलि अर्घ चौकी– विवाह संस्कार में प्रयुक्त अन्य चौकी है धूलि अर्घ चौकी जिसकी आकृति कलश की भांति होती है जो मध्य में तिरछी व आड़ी रेखाओं से रेखांकित है जिन्हें कमल की आकृति की पंखुड़ियों से जोड़कर दर्शाया गया है। इस कलश में ऊपर की ओर मुकुट नीचे की ओर पदपीठ और दोनों ओर हाथी की सूण्ड जैसी फांगें होतीं हैं। इस चौकी में विष्णु के प्रतीक शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि बनाये जाते हैं। लोक स्वीकृति के अनुरूप नवविवाहित वर-वधू का जीवन इन शुभ प्रतीकों से समृद्ध रहे और उनके वंश की वृद्धि इस चौकी में अंकित फांगों की तरह हो। ऐसी कामना के साथ इस चौकी को विवाह अवसर पर आलेखित किया जाता है। कुमाऊँ की विवाह रीति के अनुसार गोधूलि के समय बारात के आगमन पर वधू के पिता द्वारा वर का स्वागत इसी चौकी पर अर्घ देकर किया जाता है अतः इसे धूलि अर्घ चौकी कहा जाता है।

3. सूर्य चौकी अथवा नामकरण चौकी– लोक कला दीर्घा में एक अन्य ऐपण सूर्य चौकी के रूप में प्रदर्शित किया गया है। लोक मान्यता के अनुसार शिशु के जन्म के ग्यारहवें दिन नामकरण संस्कार किया जाता है। कूर्मांचल प्रथा में शिशु का जन्म जिस कक्ष में होता है। वहाँ प्रकाश अपेक्षाकृत कम होता है। अतः नामकरण के पश्चात् नवजात को सूर्य के प्रकाश में लाने के उद्देश्य से इस संस्कार का प्रचलन आरम्भ हुआ। सूर्य उपासना हेतु इस चौकी का निर्माण किया जाता है। प्रस्तुत उपासना वर्ग की सूर्य चौकी में सूर्य संस्कार के उद्देश्य से सूर्य, चन्द्र, शंख, घण्टा, आरती, कुण्डी, चक्र, आसन आदि अंकित हैं।

4. डाली– कुमाऊं परम्परा में बालक के नामकरण संस्कार में प्रयुक्त डाली को भी यहां संचित किया गया है। लोक धारणा के अनुसार नामकरण में प्रयुक्त पीले वस्त्र का झबला बनाकर अन्नप्राशन के दिन बालक को धारण करवाना चाहिए। इस प्रक्रिया से पूर्व रोली द्वारा झबले पर डाली आलेखित की जाती है और इसी झबले से अन्नप्राशन सम्पन्न होना चाहिए, जो शुभ एवं कल्याण का प्रतीक है।

कूर्मान्चल में ठया अथवा पूजा स्थल के ऐपण रेखांकित करने की प्रथा है। ये ऐपण भी लोक संस्कृति संग्रहालय का अंग हैं। ठया ऐसा स्थान है जहाँ देवता विराजते हैं। इन देवताओं के आसन को बेदी कहा जाता है। लोक संग्रहालय में प्रस्तुत ऐपण में आसन पर स्वास्तिक एवं लक्ष्मी प्रतीक अंकित हैं व खड़े भाग पर वसोधारा आलेखित है। लोक धारणा के आलोक में वसो अर्थात् नाग से है जिनका रेखांकन विषम संख्या में करना कल्याणकारी माना जाता है। इस क्रम में पूजा स्थल के निचले स्थान को भी रेखांकित किया जाना चाहिए।

मंगल कार्यों में प्रयुक्त ऐपण– कुमाऊंनी जन-जीवन में विभिन्न मांगलिक अवसरों पर प्रयोग किये जाने वाले ऐपण को इस श्रेणी में संग्रहित किया गया है। इसके अन्तर्गत संग्रहालय में अधोलिखित आलेखन संरक्षित किये गये हैं।

1. भुईयां– लोक संस्कृति परम्परा में घर में सुख-शान्ति व सात्विकता के लिए हरिबोधनी एकादशी के शुभ

सूपे पर लक्ष्मी नारायण का अंकन

अवसर पर भुईयां के रूप में दुष्टता व दरिद्रता को घर से निकाले जाने की परम्परा है इसमें प्रयुक्त सूपे या सूप को भी इस संग्रह में स्थान दिया गया है। इसमें गेरू से रंगे सूपे पर बिस्वार से भीतर की ओर लक्ष्मी नारायण व बाहर की ओर वीभत्स भुईयां का अंकन है। लोक प्रचलन में गृहिणियां ब्रह्म मुहूर्त में इस सूपे में खील बताशे और अखरोट रखकर उसे गन्ने से पीटते हुए घर के प्रत्येक कमरे व कोने से लेकर घर के बाहर की ओर इस विश्वास से जाती हैं कि भुईयाँ के रूप में घर से दुष्टता, दरिद्रता को फटकार कर बाहर निकाल दिया गया हो।

2. मुवाली– विवाह के अवसर पर द्वार या म्वाल पर आलेखित ऐपण को मुवाल या मुवाली कहते हैं जिसे मांगलिक ऐपण के वर्ग में संग्रहित किया गया है। विवाहोत्सव पर मुख्य द्वार की चौखट पर 10-15 इंच की चौड़ाई में हिमांचल तथा मछिया बेल का अंकन किया जाता है, जो शुभ का प्रतीक है।

अलंकारिक ऐपण– लोक संस्कृति के कुछ पारम्परिक ऐपण अलंकरण हेतु प्रयुक्त किये जाते हैं। जो सामंजस्य एवं सौन्दर्य के द्योतक हैं। इसके अन्तर्गत अग्रवर्णित रेखांकनों को स्थान दिया गया है।

1. देली ऐपण– कुमाऊं में गृह के प्रवेश द्वार और अन्य कपाटों के मध्य के स्थान को देली कहा जाता है। ऐपण देने की परम्परा में गृह द्वार की सज्जा में प्रचलित देली ऐपण का महत्वपूर्ण स्थान है। पुरातन लोक संस्कृति में कच्चे घरों की लिपाई-पुताई के बाद ऐपण देना आवश्यक समझा जाता था जिसमें देली ऐपण मुख्य रूप से लेखित किये जाते थे। इन्हें अतिथि आगमन, व्रत त्यौहार, संस्कार अनुष्ठान आदि अवसरों पर भी उकेरा जाता है। लोक विश्वास के अनुसार देली ऐपण शुभता, स्वच्छता व सम्पन्नता के प्रतीक हैं।

2. पारम्परिक बेलें– मनोहर बेलें जैसे गुलाब, कमल, शंखी, सिंघली, मछिया, घनेली, छाजी, चमेली आदि ऐपण अलंकरण का अभिन्न अंग हैं।

उपरोक्त ऐपण के अतिरिक्त मानसखण्ड के धार्मिक जीवन में गंगा दशहरा के अवसर पर **द्वारपत्र** लगाने की परम्परा है, जिन्हें ब्राहमणों द्वारा हस्तलिखित रूप में तैयार कर यजमानों के घर द्वारों पर स्थापित किया जाता है। इस सांस्कृतिक भण्डार में कागज़ पर हस्तनिर्मित द्वारपत्र को प्रदर्शित किया गया है जिसमें वृत्तों की सहायता से कमल की आकृति निर्मित की गयी है एवं इस पर मन्त्र भी अंकित हैं। द्वार पत्र से सम्बद्ध अवधारणा यह है कि मन्त्र लिखित द्वार पत्र की स्थापना से वर्षा ऋतु से सम्बंधित दैवीय आपदाओं से घर व कुटुम्ब की सुरक्षा होगी। यही कारण है कि द्वार पत्र को वर्षा ऋतु से पूर्व ही अर्थात गंगा दशहरा के शुभ अवसर, ज्येष्ठ मास की शुक्लदशमी तिथि को, गृह द्वार पर प्रतिष्ठित किया जाता है।

लोक संस्कृति का स्तरीय परिचायक **डिकारे**, संग्रह का अगला आकर्षण है, जिसमें शिव परिवार की रंग बिरंगी आकृतियाँ प्रस्तुत की गयी हैं, जो मिट्टी से निर्मित

हैं। कूर्मांचल में श्रावण मास के हरियाला पर्व पर मिट्टी की हस्त निर्मित प्रतिमाओं को अनाज की टोकरियों में प्रतिष्ठित करने की परम्परा है। लोक संस्कृति संकलन में कुमाउँनी परम्पराओं एवं धार्मिक विश्वास से जुड़े आध्यात्मिक व कलात्मक स्वरूप को आत्मसात किया गया है। पारम्परिक ऐपण के साथ-साथ मानस खण्ड की अन्य लोक कलाऐं जैसे ज्यूंति, पट्टा, बरबूंद आदि के विविध स्वरूप इस संग्रहालय में संरक्षित हैं। लोक जीवन की कलाओं में कुमाउँ के उत्कृष्ट काष्ठ शिल्प का कोई सानी नहीं है। जिसके प्रमाण इस संग्रहालय में द्वार, झरोंख, तख्ती, दरौज-छाज आदि के रूप में संयोजित हैं।

कुमाऊं के दैनिक जन-जीवन के पारम्परिक परिधान एवं वस्त्र जैसे रंगवाली पिछौड़ा या केसरिया पिछौड़ा है जो कुसुमी पिछौड़ा के नाम से भी प्रचलित है। यह मलमल के कपड़े पर प्राकृतिक रंगों से रंगी जाने वाली सुहाग चुन्नी है। इसमें सिक्के की आकृति के साथ स्वास्तिक निर्मित किया जाता है। इस स्वास्तिक के चारों ओर सूर्य, चन्द्रमा, शंख, तारा, घण्टा, पुष्प, बेल, मीन, हिमाचल आदि अंकित किये जाते हैं। लोक धारणा के अनुसार पीले और लाल रंग के साथ शुभ प्रतीकों की उपस्थिति पराशक्तियों से सुरक्षा प्रदान करती हैं और स्त्री को अखण्ड सौभाग्य से अलंकृत करती हैं।

लोक जीवन के परम्परागत आभूषणों को भी अविस्मरणीय रखने के उद्देश्य से इस सांस्कृतिक कोश में संचित किया गया है। इसमें गले में धारण किया जाने वाला गलोबन्द, हाथों में पहने जाने वाली पौंची, नासिका को सुशोभित करने वाली नथ, मस्तक का शृंगार मांग-टीका तथा अखण्ड सौभाग्य का प्रतीक मंगलसूत्र शामिल हैं। कुमाऊं के दैनिक जन-जीवन में सदियों से प्रयोग किये जाने वाले बरतनों को भी पारम्परिक भाण्ड की श्रेणी में स्थान दिया गया है। इनमें कसेरी-कांसे के बड़े बर्तन, भड्डू– कांसे का दाल पकाने का बर्तन, परात-पीतल या ताम्बे से निर्मित, कलई-कसिणी कांसे का गिलास एवं कांसे के अन्य बर्तन, माण-पीतल या ताम्बे का गिलास, छापरी-शादी के अवसर पर छोटा सामान रखने हेतु प्रयुक्त, घास या गाय का गोबर ले जाने में उपयोगी डोका आदि सम्मिलित हैं जिनका प्रयोग अनाज संग्रहण, भोजन निर्माण, भोजन ग्रहण एवं वस्तु मापन में भी किया जाता था।

सांस्कृतिक संकलन में कुमाऊं के समाज की भौतिक सम्पदा परम्परागत संसाधनों के साथ देवभूमि उत्तराखंड की थारू, बोक्सा, भोटिया, राजी, जौनसारी आदि जातियों के ग्रामीण परिवेश को विविध आयामी चित्रों, चार्ट, मंडल व जलरंगीय अभिव्यक्तियों द्वारा प्रदर्शित किया गया है। यहां कुमाउँनी जन-जीवन के धार्मिक व सांस्कृतिक मूल्यों को उनके पूर्व प्रचलित पारम्परिक स्वरूप में संजोया गया है यह लोक संस्कृति संग्रहालय अपने अनवरत प्रयासों के माध्यम से कुमाऊँ की लोक संस्कृति को संरक्षित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

सहायक स्रोत

1.शाह, विश्वम्बर नाथ (2006), ऐपणः पर्यावरण, सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवेश के विशेष संदर्भ में नैनीताल : ज्ञानोदय प्रकाशन, पृ.-159। **2.**पन्त, लक्ष्मी, (2008), ऐपण, ऋषिकेश : सेचुरी आफसेट, पृ.-41। **3.** जलाल, ललित (2011), कुमाऊं की लोक कला का सामाजिक सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक अवलोकन विशेष संदर्भ : ऐपण, देहरादून, मध्य संस्कृति में ज्ञान, विज्ञान, पराविज्ञान, वॉल्यूम-2, पृ.245। **4.** पाण्डे, पी.सी. (2011), 'मध्य हिमालय में प्रचलित लोक परंपराओं के कतिपय पक्षों का वैज्ञानिक एवं तार्किक विशलेषण, देहरादून, मध्य हिमालयी संस्कृति में ज्ञान, विज्ञान एवं पराविज्ञान, वॉल्यूम-2, पृ.35। **5.** पाण्डे, भारती (2011), मध्य हिमालय की लोककला : ऐपण, देहरादून, मध्य हिमालयी संस्कृति में ज्ञान, विज्ञान पराविज्ञान, वॉल्यूम-2, पृ.234। **6.**रावत, शिवराज सिंह (2011), संस्कारों की संस्कृति और उसका वैज्ञानिक आधार, देहरादून, मध्य हिमालयी संस्कृति में ज्ञान, विज्ञान एवं पराविज्ञान, वॉल्यूम-2, पृ.21। **7.** मठपाल, यशोधर, (1998), कुमाऊं की चित्रकला. देहरादून : बिशन सिंह महेन्द्र पाल सिंह. पृ.27। **8.**मठपाल, यशोधर, रॉक आर्ट एंड अदर ट्रेडिशनल आर्ट्स, भीमताल, नैनीताल : गीताधाम पब्लिकेशन्स, पृ.73। **9.** पाण्डे, भारती, (2004), हमारी सांस्कृतिक विरासत : ऐपण, देहरादून : समय साक्ष्य, पृ.73। **10.** पाण्डे, भारती, (2017), कुमाऊं की अनमोल सांस्कृतिक विरासत. देहरादून : विनसर पब्लिशिंग कम्पनी, पृ.25।

❒❒

Research Scholar
C/o. Dr. Shilpi Gupta, Head of the department-
History and Indian Culture
Banasthali Vidyapith (Raj.) 304022
vidushishukla04@gmail.com
Mo. 7417321768

कुलपाक जैन तीर्थ : यह प्राचीन मंदिर कोलनुपाका, अरेल, जि. नालगोंडा (तेलंगाना) में स्थित है, हैदराबाद से दूरी 80 कि.मी. है। इस मंदिर का निर्माण 1400 वर्ष पूर्व हुआ था, इसकी मुख्य मूर्तियां- आदिनाथ काले पत्थर की 105 सीएम., नेमीनाथ, एक ही पत्थर से तराशी सुन्दर महावीर मूर्ति हैं। मंदिर परिसर में 15 अन्य तीर्थंकरों की मूर्तियां भी हैं। कथानुसार- आदिनाथ मूर्ति को उनके पुत्र सम्राट भरत ने स्थापित की थी, कालांतर में यह रावण-पत्नी मंदोदरी के पास थी। सीताजी के अपहरण उपरांत रानी को इसे समुद्र में समाहित करने की प्रेरणा मिली। फिर अनेक समय उपरांत दक्षिण भारत के एक राजा 'शंकरन' को स्वप्न में इसे निकाल कर स्थापना करने का निर्देश मिला। उसने ऐसा ही किया एवं मूर्ति लेकर अपनी राजधानी लौट रहा था। मार्ग में स्थान कोलनुपाका के आगे वह नहीं जा सका, प्रभु इच्छा समझ कर उसने वहीं मंदिर बनवाकर मूर्ति स्थापित की। कालांतर में मंदिर का जीर्णोद्धार राजस्थान के शिल्पकारों ने जोधपुर क्षेत्र के पत्थर से किया, सुन्दर नक्काशी देखी जा सकती है। मूर्ति राजा को विक्रम सं. 680 में प्राप्त हुई थी।

वराही देवी के प्राचीन मंदिर : वराही देवी का मुंह वराह या सूअर एवं शरीर स्त्री का होता है, सप्त मातृकाओं में से पांचवी है, जिनकी उत्पत्ति असुर रक्तबीज के संहार हेतु देवी दुर्गा की सहायता हेतु हुई थी। मूर्तियों में 2 से 8 तक भुजायें होती हैं, पूजा अर्चना वैष्णव अथवा तांत्रिक विधि से की जाती है। बौद्ध धर्म की वज्रवराही भी इसी का स्वरूप है। वाराणसी में अत्यंत प्राचीन गुप्त वराही मंदिर दशाश्वमेध घाट के समीप एक गली में स्थित है। मूर्ति अष्ट बाहु एवं भूमि से नीचे स्तर पर है, जिसे मंदिर बन्द करने से पहले एक

स्लैब से ढक दिया जाता है, मंदिर प्रातः 5 बजे से 7 बजे तक ही खुला रहता है। प्रातःकालीन आरती के समय शास्त्रीय संगीत बजाया जाता है एवं दरवाजा बन्द कर दिया जाता है, कहते हैं कि देवी को संगीत अच्छा लगता है। मूर्ति की दो भुजाओं की हथेलियां ऊपर एवं नीचे की दिशा में है, अन्य में विभिन्न आयुध, शंख एवं चक्र आदि हैं।

चौरासी (ओडिशा) में वराही मंदिर 10वीं सदी में बना था, बाहर की नक्काशी सुन्दर है, कोणार्क से 27 कि.मी. दूरी पर है। यहां पूजा तांत्रिक विधि से केवल रात्रि में होती है। मंदिर का आकार (16 मी. x 8 मी. x 8.5 मी.) है। मछली व अन्य जीवों का बलि मांस एवं मदिरा अर्पित होती है। मूर्ति द्विबाहु एवं काले पत्थर से बनी है। एक हाथ में मछली एवं दूसरे में एक कटोरा है, पैरों के नीचे भैंसा बना है। बताया जाता है कि जगन्नाथ पुरी का प्रसाद भी देवी को

भेजा जाता है। चेन्नै (तमिलनाडु) में वराही मंदिर अधिक लोकप्रिय हैं, इसी कारण शहर में ऐसे अनेक मंदिर बने हैं, एक का नाम महा-वराही है। एक अष्टबाहु मूर्ति के आगे वीणा रखी गई है। नेपाल में फेहवा जलाशय के मध्य में छोटा सा द्वीप है, इसी पर वराही देवी का मंदिर स्थित है, जो कि दो मंजिले पगोडा आकार का है। पर्यटक एवं भक्त नाव से वहां तक पहुंच पाते हैं, लम्बी कतार देखी जा सकती है।

दिल्ली के पुराने किले में अनेक सभ्यताओं/काल के अवशेष खुदाई से प्राप्त हुए हैं। मौर्य काल (2300 वर्ष पूर्व) का एक Ring Well है, इसे पक्की मिट्टी पर चौड़ाई लिये हुए, घेरे एक दूसरे के ऊपर फंसा कर बनाया गया है। पकी मिट्टी का एक खिलौना है जिसके ऊपर स्टेंट पद्धति से सजावट की गई है, डोरी से खींचने के लिए दो छेद भी हैं। गुप्त काल का पकी मिट्टी का एक ब्लॉक है जिसे कपड़े पर छपाई हेतु व्यवहार करते थे, इसके ऊपर एक उभरी डंडी भी थी जिससे इसे पकड़ने में सुविधा हो। एक ताम्बे के सिक्के में दौड़ता हुआ हाथी बना है।

करांची (पाकिस्तान) का प्राचीन पंचमुखी हनुमान मंदिर : कहा जाता है कि यह मंदिर 1500 वर्ष प्राचीन है, मूर्ति अत्यधिक प्राचीन है, भूमि से प्राप्त हुई थी, मूर्ति धातु की है, रंग हल्का नीला है। इसके पांच मुख विष्णु अवतारों के हैं। मंदिर की अत्यधिक मान्यता थी तथा भारतीय तथा सिन्ध एवं बिलोचिस्तान के भक्त

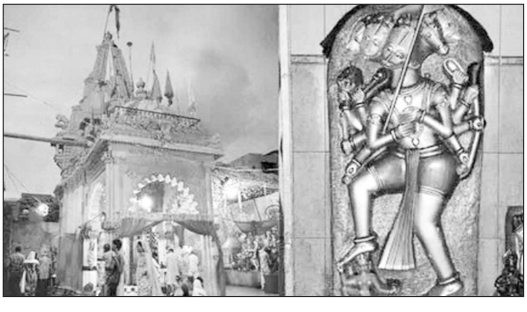

भी दर्शन हेतु आते रहते थे। बाबरी मस्जिद काण्ड के उपरान्त पाकिस्तान में अनेक मंदिर तोड़े गये थे, किन्तु इस मंदिर को कोई क्षति नहीं पहुंची थी। वर्ष 2019 में मंदिर के समीप खुदाई करते हुए आठ प्रस्तर मूर्तियां प्राप्त हुई थी जिनमें गणेश, हनुमान, देवी की मूर्तियां थीं। एक सुरंग भी देखी गई, जिसमें एक कलश पाया गया था। यह पंचमुखी मूर्ति 2.2 मी. ऊंची है। मंदिर का जीर्णोद्धार वर्ष 1882 और फिर 2012 में हुआ था।

3000 वर्ष प्राचीन केनानाइट Canaanite सभ्यता : लाचिश Lachish शहर वर्तमान जैरूसलम के द.पूर्व में 25 कि.मी. दूरी पर स्थित था। पूर्व में Canaan वह क्षेत्र था जिसके अंतर्गत वर्तमान इजरायल का अधिकांश भाग, जोरडन, दक्षिण सीरिया एवं लेबनान आते थे। जोशुआ की पुस्तक में वर्णित है कि लाचिश नगर को आक्रमणकारी इजरायल ने ईसापूर्व 13वीं सदी में अपने अधीन कर लिया था। ई.पू. 6ठी सदी में इसे बेबलोनिया ने इसे लूटा एवं ईसापूर्व 701 ई. में असीरिया ने भी। पहले यह क्षेत्र मिस्र के फराह (Pharah) अर्थात राजा के अधीन था, जैसा कि ईसापूर्व 13वीं सदी की Amuna Tablet (मिट्टी की पाटी पर लिखी गई) से ज्ञात हुआ है, जो दर्शाती है कि इस शहर के राजा ने मिस्र के राजा को पत्र लिखा था। इस कारण यहां पर मिस्र का सांस्कृतिक प्रभाव अत्यधिक रहा। Lachish में हुई खुदाई से प्राप्त वस्तुएं- 1. अंडाकार आभूषण जिसमें स्कार्ब (scarab) बना हुआ है। स्कार्ब एक प्रकार का कीड़ा, जिसका धार्मिक दृष्टि से महत्व था। 2. रजत का एक ताबीज जिसमें मिस्र की एक देवी हाथ में कमल पुष्प पकड़े हुये है। 3. मिट्टी के बर्तन, 4. कांसे के बड़े कड़ाहे, 5. कटार का ब्लेड, 6. कुल्हाड़ी, 7. अलंकृत आभूषण-स्वर्ण की दो बालियां, 8. कांच एवं स्वर्ण के मनके। यद्यपि मिस्र के अधीन रह कर शहर लाचिश ने बहुत प्रगति की थी, किन्तु ईसापूर्व 1150 में भयंकर आग लगने के कारण यह नष्ट हो गया था। ईसा पूर्व 1550-1200 में इसे फिर से बसाया गया, जिसके उपरांत यह फिर से अत्यंत समृद्ध हुआ था।

यहां पर की गई खुदाई से इस प्राचीन सभ्यता की धार्मिक मान्यता के संबंध में जानकारी प्राप्त हुई है। एक प्राचीन मंदिर मिला है, जो कि अच्छी हालत में है, जिसके केंद्र में सम्भवतः देवता की मूर्तियां रखी जाती थी, जो कि अनगढ़ पत्थरों की होती होंगी। वे लोग बाल (Baal) नामक अंधड़ के देवता को मानते थे।

रजत की कलई की हुई कांसे की दो मूर्तियां भी मिली थीं, जो कि देवता बाल एवं Resheph की थीं, भक्त उनके हेतु भेंट ले जाते थे। इसी मंदिर में एक अनमोल लेख मिला था जिसमें हिब्रू (Hebrew) भाषा का शब्द Samekh लिखा था, जो कि विश्व का सबसे प्राचीन शब्द माना जाता है।

विशेषज्ञों का मत है कि केनानाइटों (Canaanits) ने सबसे पहले ऐसे शब्दों का अविष्कार किया था, जिन्हें लिखना और पढ़ना सरल था, जबकि Mesopotemia की Cuneiform लिपि एवं मिस्र की Hieroghlph (चित्र-चिह्नों लिपि) कठिन थी। इस सभ्यता के बनाये शब्द कालान्तर में हिब्रू, ग्रीक, लैटिन एवं अंग्रेजी भाषाओं में पहुंचे।

इजराइल का पुरा-स्थल– Berim Shearim: यह स्थान HAIFA शहर के दक्षिण-पूर्व में स्थित है, Unesco की विश्व धरोहर सूची में है। यहां एक सुरंग में जूडिया के राजकुमार की कब्र के अतिरिक्त 29 अन्य कब्र हैं, जिन पर चार विभिन्न भाषाओं Greek, Aramic, Hebrew एवं Palmyrenel में उत्कीर्ण लेख हैं। इसके भीतर उच्चस्तरीय रोमन कला के नमूने देखे जा सकते हैं– मनुष्य एवं पशु-पक्षी आकृतियां, सजावट की वस्तुएं, यहूदी धर्म का चिह्न। इन्हीं के बीच में एक आयताकार पत्थर सरीखी वस्तु है, जिसका भार 9 टन है, इसका यहां होना आश्चर्य का विषय है। इस वस्तु के कांच होने की संभावना वर्ष 1960 में एक शोधकर्ता ने व्यक्त की थी। सैम्पल की जांच करने पर इस बात की पुष्टि हुई। इस पुरा स्थल की खोज वर्ष 1904 ई. में एक रूसी ने की थी। शोध से यह जानकारी मिली कि बाइबल ग्रंथ में एक स्थान पर 'पारदर्शी कांच' लिखा है, इससे यह अनुमान लगाया गया कि राजा Herod (ईसा पूर्व 74 से 4 वर्ष) ने दूसरे मंदिर में उपरोक्त प्रकार के कांच बंद खिड़कियों में लगवाये होंगे, उन्हीं में से एक उपरोक्त सुरंग में था और उसे पवित्र मानते हुए राजकुमार की कब्र उस सुरंग में बनाई गयी, फिर अन्य व्यक्तियों की कब्रें उसी स्थान पर बनी। 6ठी शताब्दी के उपरांत इस स्थान का रख-रखाव नहीं किये जाने पर, इस पर मिट्टी जमा होती गई और यह गुमनाम हो गया। ईसा का जन्म राजा Herod की मृत्यु के उपरांत हुआ था। पहले यह मान्यता थी कि ईसापूर्व 1000 में कांच मिस्र में बनाया गया था। परंतु अब इजराइल में बड़े आकार की कांच बनाने की भट्टियों के अवशेष प्राप्त होने पर यह सोच बदल गया है। अब यह माना जा रहा है कि सबसे पहले 1800 वर्ष ई.पूर्व कांच मेसोपोटामिया में बनाया गया, उसके उपरांत यह तकनीक मिस्र एवं अन्य देशों में पहुंची। इस पुरा-स्थल का काल ईसा उपरांत 135 वर्ष था।

भारतीय सभ्यता कितनी प्राचीन : खगोल शास्त्र विशेषज्ञ नीलकंठ ओक ने गणनाओं के आधार पर इनका काल बताया है– 1. महाभारत युद्ध- ईसा पूर्व 5561 वर्ष, 2. राम-रावण युद्ध- ईसा पूर्व 12209 वर्ष, 3. सूर्य सिद्धांत ग्रंथ जिसमें मयासुर द्वारा दिये ज्ञान को लिखा गया, इसका काल ईसा पूर्व 14900 वर्ष। इसमें पृथ्वी, ग्रहों, नक्षत्रों की गतिविधि से संबंधित विस्तृत जानकारी उपलब्ध है, जो कि बहुत सटीक है। निष्कर्ष है कि अक्षुण्ण भारतीय सभ्यता 17000 वर्ष प्राचीन है।

स्फीनिक्स (Sphynix) – मिस्र के गीजा में एक विशाल मूर्ति 4500 वर्ष प्राचीन है, जिसे चूना पत्थर के बड़े खण्ड को काटकर सिंह का स्वरूप दिया गया, जिसका मुख मनुष्य का है। इसे स्फीनिक्स कहते है, इसकी लम्बाई 72 मीटर, चौड़ाई 6 मी., ऊंचाई 20 मी. है, आंख ही 1.8 मी. बड़ी है। इसे असीम बल का प्रतीक माना जा सकता है। पिरैमिड बनाने में बहुत भार के पत्थर ऊंचाई तक ले जाये गये थे (जैसे काफू पिरैमिड की ऊंचाई 146 मीटर है), यह काम करने हेतु कामगार को ऐसा बलवान होना अपेक्षित था। कुछ अन्य देशों में भी स्फीनिक्स के शिल्प मिले हैं। वर्ष 1932 में Kawa, Sudan के Amum Temple में ईसापूर्व 680 वर्ष प्राचीन स्फीनिक्स प्राप्त हुआ था। भारत में स्फीनिक्स तो नहीं मिला परंतु कालीबंगा (राज.) में सिन्धु घाटी सभ्यता की एक मुहर में शरीर सिंह का है और मुख स्त्री का, जिसे सिंहवाहिनी देवी का प्रतीक माना जा सकता है, इसके पीछे देवी का त्रिशूल भी बना हुआ है। हिन्दू धर्म में मान्यता है कि नरसिंह अवतार हुआ था, जिसका शरीर मनुष्य का

और मुख सिंह का था। मिस्त्र में भी प्राचीन समय में अनेक देवताओं के स्वरूप में मनुष्य शरीर एवं पशु मुख था। कुछ स्थानों पर बैठी सिंह मूर्ति का मुख स्त्री का है। तमिलनाडु एवं आंध्र प्रदेश के शिव एवं विष्णु मंदिरों में उकेरी कई मूर्तियों का शरीर सिंह एवं मुख मनुष्य का है जिन्हें मृग-पुरुष कहते हैं।

अन्य ग्रहों से आने वाले : पृथ्वी से चांद पर मानव 20वीं सदी में पहुंच सका, किन्तु क्या प्राचीन काल से ही अन्य ग्रहों के लोग (ऐलिंस) धरती पर आते रहे हैं? यह विवादित क्यों न हो, पर इस विषय के विद्वानों एवं अन्य व्यक्तियों ने समय समय पर अपनी तरह से साक्ष्य उपलब्ध कराये हैं। सूची लम्बी है, कुछ इस प्रकार हैं–

1. माया सभ्यता– पेरू (मैक्सिको) के एक पिरेमिड/मंदिर में प्राचीन तांबे के पत्रे पर एक चित्र

अंकित है जिसमें स्पेस-शिप (Space Ship) के अंदर एक व्यक्ति उसे चला रहा दर्शाया गया है। मैक्सिको की माया सभ्यता का कैलेंडर इस सभ्यता के उदय से 3000 वर्ष पूर्व बना था, जिसे ऐलिन्स ने बनाया होगा, उन्हें ग्रह/नक्षत्रों की समुचित जानकारी प्रतीत होती है। मैक्सिको में जमीन पर बड़े आकार के रेखाचित्र बने हैं, जिन्हें अन्य ग्रह से उतरने वाले स्पेसशिप की सुविधा के लिए बनाया गया होगा। बड़े आकार की क्रिस्टल क्वार्टज की खोपड़ी गहराई (कुएं) में मिली हैं, जिन्हें एलिन्स ट्रांसमीटर की तरह उपयोग करते थे। मैक्सिको में 1000 वर्ष प्राचीन खोपड़ी मिली है जो सामान्य से अधिक लम्बी है, जो ऐलिन्स की होगी। माया सभ्यता की कई नक्काशियों में ऐलिन्स होने का संकेत मिलता है।

2. मिस्त्र सभ्यता– मिस्त्र सभ्यता के एक चित्र में दिखाये पुरुष/स्त्री/बच्चे, पृथ्वी एवं अन्य ग्रह के लोगों के मिलन का परिणाम था। अनेक मूर्तियों/चित्रों में मनुष्य शरीर के ऊपर पशु मुख दर्शाये गये हैं, इसे ऐलिन्स द्वारा किये गये जैनेटिक परिवर्तन समझा गया है। मिस्त्र के पिरेमिड के भीतर अंकित बल्ब (Bulb) शिल्प को ऐलिन्स की परिकल्पना माना गया है। एक अन्य अंकन में पावर प्लांट दिखता है, ऐलिन्स न्यूक्लियर एनर्जी के संबंध में जानते थे। गीजा के ओबलाक्स स्तंभ के चारों ओर जो आकृतियां एवं चिह्न गहराई लिये सफाई से बने हैं, उन्हें किसी विशेष मशीनरी द्वारा ही बनाया जा सकता है, यह ज्ञान ऐलिन्स ने दिया था। एक शिल्प में एक व्यक्ति ऐलियन से हाथ मिला रहा है। **3.** अनेक व्यक्तियों ने आकाश में उड़न तश्तरी अनेक स्थानों पर देखी हैं और फोटोग्राफ भी लिये हैं। **4.** जापान में एक स्पेसशिप मिला था जिसके समीप एक स्त्री खड़ी थी जिसके हाथ में एक पेटी थी, किन्तु वह कुछ बता नहीं रही थी। इस संबंध में अनुसंधान किया गया होगा। **5.** स्पेस मैन एवं शिप दर्शाते हुई अनेक शिल्प मिले हैं। एक आदिवासी समुदाय का डुगु खिलौना स्पेस मैन से मिलता जुलता है। एक अन्य कबीले में चटाई नृत्य होता है, जिसमें चटाई से बनी पोशाक पहन कर नृत्य करते हैं। यह पोशाक एलिन्स से मिलती है। एक आदिवासी कबीले के लोग ऐसी

टोपी पहनते हैं, जिसे देखने पर स्पेसशिप का आभास होता है। एक पत्थर की नक्काशी में योद्धाओं के हाथ में जो ढ़ाल है वह स्पेसशिप का डिजाइन लगता है। जब किसी ने कुछ देखा होगा, तभी वह उसका चित्रण करने में सक्षम हुआ होगा। बहुत बड़े आकार, भार और प्रकार की प्रस्तर मूर्तियां मिली है, जिन्हें देखने से लगता है कि उन पर ऐलिन्स का चित्रण किया गया है। चीन में ऐसे शिल्प मिले हैं, जो मुखौटे पहने हुए हैं, मुखौटे एलिन्स को दर्शाते हैं। 6. लंदन की प्रस्तर शिल्प वाटिका (Stone Garden) में केवल एक व्यक्ति ने बड़े आकार के शिल्प बनाकर एक दूसरे के ऊपर सजाये थे। शिल्प भी अनेक हैं। उसने अकेले यह सब कैसे किया, उसके पास केवल एक पुली चैन ट्राईपाड और एक काला बक्सा था, उसका कहना था कि वह जानता है कि गीजा के पिरैमिड किस तरह बनाये गये थे। उसके कथन को समझते हुए वैज्ञानिकों का यह मानना है कि तकनीक से पत्थर में इलैक्ट्रो-मैगनेटिक तरंग प्रवाहित की जाती होगी, ऐसा करने से उसका वजन, वास्तविक से बहुत कम हो जाता है। उक्त व्यक्ति की मृत्यु 1951 में हो गई थी। 7. एडम (आदम) एवं ईव की वाटिका वास्तव में ऐलिन्स की प्रयोगशाला थी, ऐसा शोधकर्ताओं का मानना है। 8. अत्यंत प्राचीन एलुमिनियम धातु का टुकड़ा मिला है, ऐसे काल का जब पृथ्वी पर धातु विज्ञान शुरू भी नहीं हुआ था। इससे निष्कर्ष निकाला गया कि यह स्पेसशिप का टुकड़ा होगा। 9. प्राचीन लकड़ी की पट्टी पर चित्रात्मक भाषा में लेख अंकित मिला है, जिसे स्पेस यात्रा से जुड़ा माना गया है। 10. पत्थर के एक प्राचीन चौड़े स्तंभ पर गणित से संबंधित नक्काशी पाई गई है, जिसे ऐलिन्स से संबंधित माना गया है। 11. एक प्राचीन शैल चित्र में अनेक पशु, पक्षी एवं शिकारियों के साथ ऐलिन्स भी दर्शाये गये हैं। बस्तर, छत्तीसगढ़ से मिले चित्रों में ऐलिन्स दर्शित हैं। एलिन्स के धरती पर आने का उद्देश्य सोने की खोज बताया जाता है, क्योंकि उनके यानों में स्वर्ण का उपयोग होता था। इस विषय के विद्वानों का मत है कि अंगकोरवाट। (कम्बोडिया) में विश्व के सबसे बड़े प्रस्तर शिल्पों एवं मंदिरों के समूह की स्थापना ऐलिन्स ने की थी। एक शक्तिशाली देश ने ऐलिन्स को बंदी बनाकर उन पर शोध किया है, किन्तु निष्कर्ष अपने तक ही रखा है।

मदुराई या मदुरै (त.ना.) का मीनाक्षी अम्मा मंदिर एवं पीटर पादुकायें : यह मंदिर तमिलनाडु की वैगाई नदी के तट पर स्थित है, इसका उल्लेख वहां के छठी सदी के संगम इतिहास में मिलता है। ब्रिटिश काल में इस क्षेत्र में मंदिर को केंद्र में रख कर गलियां, कई वृत्त में बनी हैं जो कि कमल का आभास दिलाती हैं। मंदिर प्रायः 2100 वर्ष प्राचीन है और इसे विभिन्न सदियों में मदुराई के पांड्यन राजाओं ने बनवाया था। 1310 ई. में आक्रमणकारियों ने इसे क्षति भी पहुंचाई थी। इसकी बनावट मानव शरीर को परिभाषित करती है– पांच मुख्य गोपुरम पांच ज्ञान इंद्रियों को लक्षित करते हैं, अन्य नौ गोपुरम मानव देह के नौ छिद्रों को लक्षित करते हैं। तात्पर्य कि परमशक्ति/शिव मानव देह में 7वें सहस्र दल कमल (सप्तम सूक्ष्म चक्र) में स्थित है। सबसे बड़े गोपुरम की ऊंचाई 51.9 मीटर (170 फिट) है, मंदिर में छोटे बड़े 33000 शिल्प हैं। कथा है महाराजा मालाद्वज पांड्यन ने पुत्र-कामेष्ठी यज्ञ करवाया था, परंतु यज्ञ-अग्नि से एक कन्या की प्राप्ति हुई, जिसका नाम तदातगी रखा गया। उसके तीन स्तन थे, आकाशवाणी से ज्ञात हुआ कि जब वह अपने होने वाले पति को देखेगी, उस समय तीसरा स्तन लोप हो जायेगा। जब तदातगी बड़ी हुई, उसे प्रेरणा हुई कि तीनों लोकों पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। जब कैलाश पर्वत पहुंचकर उसने शिव के गणों एवं नन्दी को हराकर अस्त्र शिव पर उपयोग करना चाहा, तो वह ऐसा नहीं कर सकी और उसे लज्जा का आभास हुआ। उसका तीसरा स्तन भी लुप्त हो गया, वह समझ गई कि वह तो पार्वती ही है। इसके उपरांत तदातगी और शिव दोनों मुदराई पहुंचे। पिता ने उसका राजतिलक करने के उपरांत उसका विवाह शिव से कर दिया। विवाह में विष्णु भी तदातगी के भाई की रस्म निभाने के लिए बैकुण्ठ से निकले, रास्ते में इन्द्र के कारण उन्हें देर हो गई, जिस कारण एक अन्य देवता थिरूप्परनकुन्द्रम ने यह रस्म निभाई। 300 वर्ष ईसापूर्व पाण्ड्यन राज्य का संचालन तदातगी

कर रही थी। दोनों ने अनेक वर्ष तक राज्य का कार्य देखा। इसके उपरांत दोनों अपने दैविक स्वरूप में परिवर्ति हो गये, जिन्हें मीनाक्षी एवं सुन्दरेस्वरार के नाम से जाना गया। इस मंदिर की प्रधान पूज्य मीनाक्षी है, जब कि दूसरे मंदिरों में शिव होते हैं। परम्परा है कि रात्रि में मंदिर बंद करने से पहले शिव सुन्दरेस्वरार की मूर्ति को मीनाक्षी देवी के शयन कक्ष में पहुंचा दिया जाता है और सुबह होने पर यथास्थान वापस लाया जाता है। इनके विवाह दिवस को प्रतिवर्ष मनाया जाता है, जिसे चित्तिराय (चैत्र उत्सव) कहा जाता है।

पीटर पदुकायें– ब्रिटिश काल में सन् 1812-28 में राऊस पीटर मुदराई के कलैक्टर पद पर कार्यरत थे। पदेन वे मीनाक्षी मंदिर के प्रशासक भी थे। वे अपना

कार्य सच्चाई एवं निष्ठा से करते एवं सभी धर्मों का आदर करते एवं स्थानीय परम्पराओं को भी महत्व देते थे। इस कारण वहां की जनता उन्हें 'पीटर पाण्ड्यन' कहती थी। मीनाक्षी मंदिर उनके निवास एवं कार्यालय के बीच स्थित था। घर से घोड़े पर बैठकर जाने को निकलते, मंदिर परिसर से पहले अपना हैट/टोपा एवं जूते उतार कर मंदिर क्षेत्र में पैदल चलते थे। इस प्रकार वह देवी के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते थे, यद्यपि उनका धर्म ईसाई था। अत्यंत रुचि से मंदिर की व्यवस्था देखते कि वह परम्परानुसार चल रही है या नहीं।

एक बार मदुराई में अतिवृष्टि हुई। पीटर अपने निवास पर सो रहे थे, उनकी नींद पायल की रुन-झुन से खुल गई। वे उठे और देखते हैं कि एक बालिका खड़ी है जो नंगे पैर है किन्तु रेशमी परिधान एवं बहुमूल्य आभूषण पहने है और वह उन्हें संबोधित कर अपने साथ आने को कह रही थी। वे यह जानने के लिए कि वह कौन है, उसके पीछे-पीछे घर से निकले पर वह बालिका नहीं दिखी। इधर-उधर देखने के बाद पीछे मुड़कर देखने पर बालिका तो नहीं दिखी किन्तु ज्ञात हुआ कि उनका घर बाढ़ के पानी में बह गया था। पीटर भाव विह्वल हो उठे कि देवी मीनाक्षी ने उन्हें मृत्यु से बचा लिया था। कृतज्ञ मन से वे देवी को कुछ भेंट अर्पित करना चाहते थे। पुजारी से बात करने के उपरांत, चूंकि उन्होंने बालिका को नंगे पांव देखा था। अतः उन्होंने देवी के लिये रत्न (हीरा, पन्ना, माणक) जड़ित स्वर्ण के कलात्मक जूते (पादुका) बनवाकर मंदिर को भेंट किये, जिन्हें पीटर- पादुकायें नाम से जाना जाता है। वार्षिक उत्सव के समय इन्हें भी देवी मीनाक्षी के शृंगार की वस्तुओं में सम्मिलित किया जाता है। पीटर की भेंट सच्ची धर्मनिरपेक्षता का सुन्दर उदाहरण है। मंदिर के पुजारी ने भी मन से उनकी भेंट को सराहते हुए उसे पीटर-पादुकायें की संज्ञा दी और उन्हें देवी के शृंगार में सम्मिलित किया।

अब वर्तमान को देखा जाय तो स्थिति उलटी है। एक उच्च शिक्षण संस्थान (सरकार से सम्बद्ध) में गणेश मूर्ति की स्थापना हुई थी। कुछ छात्रों ने कहा कि इस मूर्ति से उनकी धार्मिक आस्था आहत होती है, जिसके उपरांत उस मूर्ति को हटा दिया गया। यह तथाकथित धर्मनिरपेक्षता की आड़ में तुष्टीकरण है। मुस्लिम बहुल देश इंडोनेशिया में करेंसी नोट पर गणेश छपे हुए हैं, वहां उन्होंने ऐसा स्वेच्छा से किया था और किसी की धार्मिक आस्था आहत नहीं हुई थी।

पिरामिड पुष्प : वनस्पति विज्ञान के अनुसार इस पुष्प का नाम Rheum Nobile है, इसे महामेरु नाम से भी जाना जाता है। यह शक्वाकार ऊंचा है, ऊंचाई 2 मीटर तक होती है एवं रंग हल्का पीला है। इसकी संरचना देखकर प्रतीत होता है कि जैसे इसकी पंखुड़ियां

पत्ता गोभी के छिलकों को एक के ऊपर एक रखकर बनी हैं। इसके पत्ते गहरे हरे रंग के गोलाकार हैं, जिनकी नसें देखी जा सकती हैं एवं वे पुष्प के चारों ओर घाघरे की तरह फैली हुई हैं। यह पुष्प 4000-8000 मीटर ऊंचाई पर उत्तर भारत एवं पाक, नेपाल, सिक्किम, भूटान, तिब्बत एवं म्यानमार में पाया जाता है।

विश्व की प्राचीनतम 'ममी' : प्राचीन मिस्र में राजा अथवा अन्य प्रभावशाली व्यक्ति (राज पुरोहित) का मृत्यु होने पर उसकी ममी (मृत व्यक्ति की संरक्षित देह) बनाई जाती थी, इनमें प्राचीनतम 5000 वर्ष पहले की अभी तक यथावत है। राजा की ममी पर सोने का मुखौटा चढ़ाकर एक अलंकृत ताबूत में उसे रखा जाता था, इसके उपरांत इसे मृत व्यक्ति द्वारा व्यवहार में ली गई की वस्तुओं सहित पिरैमिड में बंद कर दिया जाता था। किन्तु इससे भी अधिक प्राचीन ममी उत्तरी चिली के ऐटाकामा रेगिस्तान से 1917 में मिली, इस रेगिस्तान के छोर पर समुद्र तट स्थित है। 1983 में की गई खुदाई में 100 से अधिक ममी यहां प्राप्त हुई थीं जो सतह से 50-100 सेमी. नीचे ही मिल गई थी। इनका काल ईसापूर्व 5000 से 7000 वर्ष आंका गया है। आश्चर्य होता है कि चिंचोरो सभ्यता की ये ममी ऐसे लोगों ने बनाई थी जिनके पास पर्याप्त साधन नहीं थे, किन्तु कला थी। विशेष बिन्दु– 1. बनाने का कारण मातृत्व भाव था, अतः सबसे पहले बच्चों की ममी बनी थीं, यह सोचकर कि मृत्यु उपरांत भी वे समीप ही थे, 2. समुदाय के सभी मृतकों की ममी भी बनाई जाती थी। 3. इन्हें बनाने में मुख्य भूमिका स्त्रियों की थी। 4. ये लोग मछली पकड़ कर जीवनयापन करते थे। 5. सरकंडों से रस्सी, छोटे आकार के कपड़े एवं मछली पकड़ने का जाल बनाते थे। 6. कुछ प्राचीन खोपड़ियां देखने से पता चला कि इनमें लड़ाई-झगड़े भी होते थे।

ममी बनाने की विधि : शरीर की खाल अलग कर, मांस, नर्म तन्तु एवं अवयव निकाल देते थे। इसके उपरान्त शरीर में सूखी घास इत्यादि भर कर खाल को फिर से सिलाई कर दी जाती थी। पैरों/हाथों में मजबूती के लिए लकड़ी के पतले डंडे डाले जाते थे। मुंह पर मिट्टी का मुखौटा लगाने के बाद इसे रेत में दबा दिया जाता था। इन मम्मियों को वर्तमान में दक्षिण चिली के एक संग्रहालय में सुरक्षित रखा गया है।

पत्नी सहित हनुमानजी का मंदिर–पत्नी सहित तेलंगाना के खम्मम में एक मंदिर में हनुमान एवं उनकी पत्नी की मूर्तियां हैं। पत्नी का नाम सुवर्णचला था, जिसका वरण उन्होंने एक विकट परिस्थिति में किया था, जब वे सूर्य से ज्ञान प्राप्त कर रहे थे। मान्यता के अनुसार इनकी विवाह की तिथि के दिन यहां विशेष पूजा-अर्चना एवं उत्सव होता है। उनके पुत्र मकरध्वज का वर्णन रामायण में आता है। उनके इस पुत्र का मंदिर पोरबंदर (गुजरात) के समीप ग्राम ओडाडर में स्थित है।

चक्र की सर्वप्रथम परिकल्पना– अधिकतर लोग यही जानते हैं कि चक्र सम्राट अशोक (मौर्यकाल) की देन है। जबकि हड़प्पा की एक टैबलेट (पाटी) में चक्र बना है, जिसमें छह तीली हैं। इस सभ्यता को 5000 वर्ष प्राचीन माना जाता है, किन्तु राखीगढ़ी खुदाई से प्राप्त वस्तुओं के आधार पर इसे अब 7000-8000 वर्ष प्राचीन आंका गया है। मेहरगढ़, बिलोचिस्तान में हुई खुदाई से 6000 वर्ष प्राचीन आंका गया है। मेहरगढ़, बिलोचिस्तान में 6000 वर्ष पूर्व का तांबे का एक छोटा-सा चक्र मिला है, जो कि ताबीज की तरह प्रयोग में लाया जाता होगा। यह धातु को पिघला कर मिट्टी के सांचे में ढाल कर बनाया गया था। सांचा बनाने हेतु मोम से चक्र बना कर, उसे मिट्टी में रखकर पकाने से सांचा बन जाता है। यह दर्शाता है कि सिंधु घाटी सभ्यता अत्यंत विकसित सभ्यता रही।

अत्यंत प्राचीन सभ्यता– सुमात्रा द्वीप (इण्डोनेशिया) के टोबो नामक स्थल में बहुत समय पूर्व एक भीषण ज्वालामुखी का विस्फोट हुआ था जिसका समय 74000 वर्ष पूर्व आंका गया है। इससे उड़ी गर्म राख 3200 कि.मी. दूरी तक पहुंचने के कारण अनेक अन्य स्थानों में भी तबाही हुई थी। आंध्र प्रदेश के ज्वालापुरम (जि. करनूल) में उक्त राख की थड़ प्राप्त हुई थी, जिसके नीचे पत्थर की अनेक वस्तुएं प्राप्त हुई थी, जिनमें मुख्यतः खेती-बाड़ी के औजार थे। राख की थड़ के ऊपर की मिट्टी की परत में भी इस प्रकार के औजार प्राप्त हुए थे, जिससे निष्कर्ष निकाला गया कि उपरोक्त ज्वालामुखी की राख से तत्कालीन प्राचीन सभ्यता ने अपने को सुरक्षित रखा था, एवं उसका काल 75000 वर्ष पूर्व का था। अतः यह सभ्यता मेसोपाटामिया की सभ्यता से भी अधिक प्राचीन थी।

एक अद्‌भुत दुर्गा मूर्ति : वर्ष 2005 में जब ब्रज क्षेत्र के लोहा कुंड में मशीनरी से खुदाई का कार्य किया जा रहा था, उस समय एक काले पत्थर से निर्मित अनेक भुजाओं वाली दुर्गा मूर्ति प्राप्त हुई थी। इस मूर्ति को मंदिर में स्थापित कर दिया गया था। इसकी विशेषता है कि इसके एक हाथ में शिवलिंग है। वाहन सिंह का मुख मूर्ति के दायें ओर है, जबकि सामान्यता यह बाईं ओर दिखाया जाता है।

आरती 'ॐ जय जगदीश हरे....' के रचयिता श्रद्धाराम फिल्लौरी : सन् 1870 में श्रद्धारामजी ने इस आरती की रचना की थी। यह अत्यंत लोकप्रिय हुई, जन मानस में रच-बस गई एवं प्रत्येक कथा/धार्मिक आयोजन में भक्ति भाव से गाई जाती है। इस आरती में गूढ़ शब्द निहित हैं, जिनकी ओर सामान्य जन का ध्यान तो जाता ही नहीं है, पुजारी भी इस पर चर्चा/विवेचना नहीं करते हैं, उदाहरण– मात, पिता तुम मेरे..., तुम बिन और न दूजा..., तुम पूरण परमात्मा, तुम अंतर्यामी, पारब्रह्म परमेश्वर, तुम हो एक अगोचर (निराकार), सबके प्राणपति..., इत्यादि। श्रद्धाराम शर्मा का जन्म फिल्लौर (जालंधर पंजाब) में हुआ था। वे सनातन धर्म प्रचारक, ज्योतिषी, स्तवंत्रता सेनानी एवं संगीतज्ञ थे। बचपन से ही वे प्रतिभावान रहे, 7 वर्ष की आयु तक उन्होंने गुरुमुखी पढ़ी, 10 वर्ष की आयु में उन्होंने संस्कृत, हिन्दी, फारसी एवं ज्योतिष ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उन्होंने सन् 1877 में हिन्दी उपन्यास 'भाग्यवती' लिखा था, जो कि उनकी मृत्यु उपरांत 1888 में प्रकाशित हुआ, इससे पहले उन्होंने इसे गुरुमुखी में लिखा था। वे धार्मिक कथाओं एवं व्याख्यानों के लिए प्रसिद्ध थे, उसी समय वे जनजागरण हेतु अंग्रेजों के विरुद्ध विचारधारा की अलख जगाते थे। अंग्रेजों ने सन् 1865 में उन्हें फिल्लौर से निष्कासित कर दिया था, किन्तु उनकी लिखी पुस्तकें विद्यालयों में पढ़ायी जा रही थीं। उन्होंने साक्षरता हेतु भी प्रयास किये थे। उनका निधन 1881 में लाहौर में हुआ था।

❑❑

जीतेंद्रनाथ जौहरी

ई-234, सेक्टर-14, हिरणमगरी,

उदयपुर (राज.)-313002, मो. 8003188087

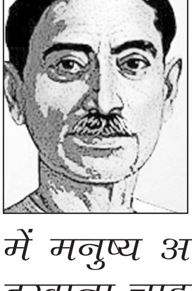

31 जुलाई 1880 को जन्मे प्रेमचंद अपने विपुल रचनाकर्म के कारण हिन्दी कथा-साहित्य के पुरोधा के रूप में सदा प्रेरक एवं प्रासंगिक रहेंगे। वे कहते थे– 'खाने और सोने का नाम जीवन नहीं है, जीवन नाम है, आगे बढ़ते रहने की लगन का। जिस बंदे को दिन की पेट भर रोटी नहीं मिलती, उसके लिए इज्जत और मर्यादा सब ढोंग है। क्रोध में मनुष्य अपने मन की बात नहीं कहता, वह केवल दूसरों का दिल दुखाना चाहता है।'

अनहद में गए वर्मा साहब

अनहद (101/47 मीरां मार्ग जयपुर) विजय वर्माजी का निवास। अन्दर गया, बड़े से हॉल में नीम अंधेरा, एक बल्व टिमटिमा रहा था, जैसे एक साधक का गुहा-निवास। सोफा, टेबल, कुर्सी और अन्य सामान, साधक के पुराने साथी। हॉल में से सीढ़ियां ऊपर जा रही हैं। सीढ़ियों के बगल में पुराने टेपरिकार्डर, ग्रामोफोन, पुरानी रेकार्डस् का संग्रह, चित्र, प्रोजेक्टर और ऐसी ही चीजें। सीढ़ियां चढ़कर ऊपर गया तो, अलमारियों में सहेज के रखी लगभग 15000 दुर्लभ पुस्तकों एवं पत्रिकाओं के बीच बैठे वर्मा साहब एक पुरानी पुस्तक की जिल्दसाजी में दत्तचित्त। प्रणाम किया तो सिर उठाकर देखा, खिले चेहरे से कहा– अरे! आओ, आओ। कोलकाता आकर राजस्थान के जन-जीवन एवं मंदिर स्थापत्य पर सचित्र वार्ताएं देने का मेरा अनुरोध उत्साह से स्वीकार किया और फिर घंटों बातें होती रही उनके शोधकार्य पर। बाल सुलभ सरलता से बताते-दिखाते रहे अपना संग्रहालय और मैं अभिभूत। आईएएस वर्माजी राजस्थान-प्रशासन के विभिन्न उच्च पदों पर पदस्थ रहे, जवाहर कला केंद्र के महानिदेशक रहे और अतिरिक्त मुख्य सचिव पद से सेवानिवृत्त हुए। लेकिन इससे भी अधिक एक यायावर, शोधक, रिकार्डिस्ट, फोटोग्राफर, लाइब्रेरियन, जिल्दसाज तथा राजस्थान के लोक संगीत, लोक-नाट्यों, लोक कलाओं, लोकवार्ताओं के अनुरक्षक। लोककला, स्थापत्य, भारतीय संगीत पर गहन अध्ययन-लेखन। नाटक, गीत, चिंतनपरक निबंध, समीक्षा, हास्य-व्यंग्य, संस्मरण एवं वार्ताओं के लेखक और शायर। लोक प्रतिभाओं की खोज कर उनको मंच उपलब्ध कराते। एक काव्य संग्रह के अलावा 'द लिविंग म्यूजिक ऑफ राजस्थान', परफार्मिंग आर्टस् ऑफ राजस्थान, सरोकारों के रंग, हिन्दी फिल्म संगीत, सिंहावलोकन, बहुरंगी और लोकावलोकन जैसी कृतियों के सर्जक। भारत के मंदिरों के स्थापत्य व शिल्पशास्त्र पर शोधपरक लेखन, दृश्य-श्रव्य वार्ताएं। 'वैचारिकी' में भी आपके कई लेख प्रकाशित हुए। विभिन्न प्रतिष्ठित अकादमिक पुरस्कारों से सम्मानित, परंतु पता नहीं क्यों पद्म पुरस्कार से सम्मानित नहीं किए गए?

5 अक्टूबर 1935 को जन्मे विजय वर्मा साहब अनुसंधान की गहन मनोवृत्ति के प्रेरक, सरल मना, उदार, निर्भिमान, आजीवन संजोकर रखी अपनी अमूल्य निधि हमें सौंप कर हमारे बीच से 18 जून 2024 को सदा के लिए चले गए।

सादर नमन, स्मरण, भावांजलि।

—सम्पादक

स्वत्वाधिकारी भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता के लिए सचिव शंकरलाल सोमानी द्वारा कल्याणी प्रिंटर्स, अलखसागर रोड, बीकानेर के लिए कंप्यूटर-एन-मीडिया, 25ए, सी. आर. एवेन्यू, कोलकाता-72 में मुद्रित एवं भारतीय विद्या मंदिर से प्रकाशित। संपादक- डॉ. बाबूलाल शर्मा।

भारतीय विद्या मंदिर द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

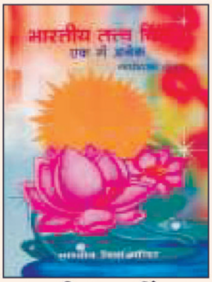

भारतीय तत्त्व चिंतन
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 150/- पृ.सं. 190

रसो वै सः
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 150/- पृ.सं. 165

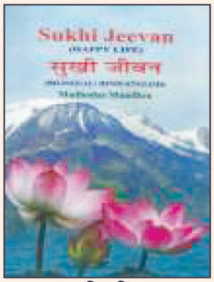

सुखी जीवन
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 275/- पृ. सं. 216

हिन्दी भाषा-साहित्य में बंगालेर अवदान
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 800/- पृ. सं. 352

मानव मूल्य परिभाषाएं और व्याख्याएं
सत्यव्रत शास्त्री
मूल्य 550/- पृ. सं. 304

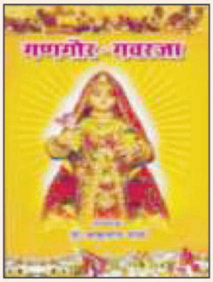

गणगौर-गवरजा
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 400/- पृ. सं. 264

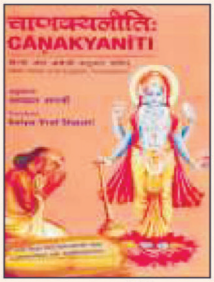

चाणक्यनीतिः
सत्यव्रत शास्त्री
मूल्य 295/- पृ.सं. 194

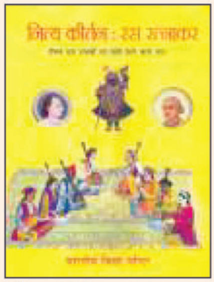

नित्य कीर्तन : रस रत्नाकर
मूल्य 900/-

मीरांबाई
प्रामाणिक जीवनी एवं मूल पदावली
संपा. ब्रजेन्द्र कुमार सिंहल
मूल्य 900/- पृ.सं. 584

हिन्दी साहित्य बंगीय भूमिका
कृष्णबिहारी मिश्र
मूल्य 750/- पृ.सं. 551

श्रीरामकथा की कथा (प्रथम खण्ड)
आचार्य सोहनलाल रामरंग
मूल्य 600/- पृ. सं. 379

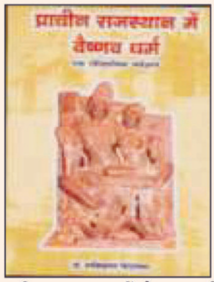

प्राचीन राजस्थान में वैष्णव धर्म
डॉ. सतीश कुमार त्रिगुणायत
मूल्य 550/- पृ. सं. 287

विश्व की कालयात्रा
डॉ. वासुदेव पोद्दार
मूल्य 700/- पृ. सं. 409

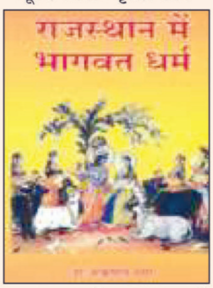

राजस्थान में भागवत धर्म
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 900/- पृ. सं. 468

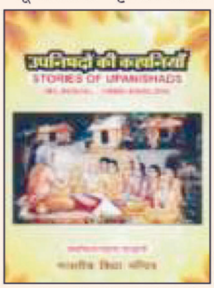

उपनिषदों की कहानियाँ
जयकिशन दास सदानी
मूल्य 400/- पृ. सं. 208

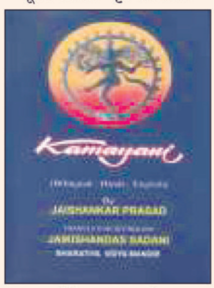

Kamayani
Tr. Jaikishandas Sadani
Price : Rs. 900/- Pages : 477

पुस्तकादेश हेतु संपर्क करें

शंकरलाल सोमानी, सिम्पलेक्स हाउस, 27, शेक्सपीयर सरणी, कोलकाता-700 017 मोबाइल : 09830559364 ई-मेल : shankar.somani@simplexinfra.com

From
BHARATIYA VIDYA MANDIR
12/1, Nellie Sengupta Sarani
Kolkata - 700087 *(W.B.)*

TO

गिरधरदास मूंधड़ा पब्लिक स्कूल (इंगलिस मीडियम) के वार्षिकोत्सव-2024 पर प्रतिभाशाली छात्र को पुरस्कृत करते हुए डा. बिट्ठलदास मूंधड़ाजी।

पं. जसराज संगीत विद्यालय के शुभारम्भ के पूर्व सरस्वती-गणेश पूजन में संस्थान के अध्यक्ष डा.बिट्ठलदास मूँधड़ा एवं धर्मपत्नी श्रीमती यमुना मूँधड़ा परिलक्षित हैं।

पं. जसराज संगीत विद्यालय के उद्घाटन समारोह पर अध्यक्षीय संबोधन प्रस्तुत करते हुए डा. बी.डी. मूँधड़ा, उनके बायें पं. सप्तरिषी चक्रवर्ती एवं दाहिने पं. रतन मोहन शर्मा एवं डा. तारा दूगड़ संसद उप सभापति।

उद्घाटन समारोह पर संगीत विद्यालय के छात्र एवं पं. सप्तरिषी चक्रवर्ती (संगीत शिक्षक) गणेश सरस्वती-शिव गायन प्रस्तुत करते हुए बगल में अध्यक्ष डा. बी.डी. मूँधड़ा।

श्री अर्जुन राम मेघवाल भारत सरकार के कानून मंत्री, श्रीमती पाना देवी मेघवाल द्वारा वैचारिकी के प्रधान संपादक व अध्यक्ष डा. बी.डी. मूँधड़ा को पुस्तकें भेंट करते हुए साथ में सचिव शंकरलाल सोमानी।

अध्यक्ष डा. बी.डी. मूँधड़ा के निकट प्राचीन भारतीय इतिहास के विशिष्ट शोधकर्ता श्री निलेश निलकण्ठ ओक को मोमेन्टो प्रदान करते हुए श्री बालकृष्ण मूँधड़ा संसद सदस्य।